॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१

॥ श्रीः ॥

वेदान्तसारः

'भावबोधिनी' व्याख्योपेतः

(संशोधित-परिवर्द्धित-संस्करणम्)

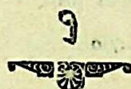


चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१



श्रीसदानन्दप्रणीतः

वेदान्तसारः

'भावबोधिनी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः—

मुरादाबादस्थ के० जी० के० कालेजप्रोफध्यायः

श्री रामशरणत्रिपाठी शास्त्री

एम. ए., काव्यतीर्थः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६५

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : चतुर्थ, संवत् २०२२

मूल्य : २-५०

Chowk, Varanasi-1

(India)

1965

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN ŚANSKRIṬ GRANTHAMALA
I



VẸDĀNTASĀRA

OF

SRĪ SADĀNANDA

Edited with
THE BHĀVABODHINĪ SANSKRIT AND HINDĪ
COMMENTRIES.

BY

SRĪ RAM S'ARAṆ TRIPĀTHĪ, M. A.
Professor, K. G. K. College, Moradabad.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Post Box No. 69. Varanasi-1 (India) Phone : 3076
1965

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers & Antiquarian Book-Sellers

POST BOX 8. VARANASI-1 (India) PHONE : 3145

निवेदन

(प्रथम संस्करण)

धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्वर्ग में से मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग यद्यपि अपने-अपने ढंग से सभी दर्शनों में बतलाया गया है किन्तु इस विषय का जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त में किया गया है उतना सुचारुरूप से अन्यत्र कहीं नहीं, इससे प्रायः सभी विद्वज्जन सहमत हैं। इसी कारण यह अपने विवेच्य विषय के समान ही 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है।

'वेदान्तसार' इसी अद्वैततत्त्व की मुख्य-मुख्य बातों से युक्त सारभूत ग्रन्थ है जिसमें माया, ईश्वर, जीव एवं जगत् का परिचय करा कर 'तत्त्वमसि' महावाक्यार्थ तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभववाक्यार्थ के विस्तृत वर्णनपूर्वक 'जीवन्मुक्त' का बोधगम्य विवेचन किया गया है।

इस लघु किन्तु सारभूत ग्रन्थ की महत्ता का यही प्रमाण है कि यह भारतवर्ष में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों की एम० ए० (संस्कृत) एवं संस्कृत की भी किसी न किसी परीक्षा में पाठ्य पुस्तक के रूप में नियत है। विशिष्ट-विशिष्ट विद्वानों द्वारा की हुई इसके ऊपर संस्कृत-हिन्दी की टीकायें भी हैं। अतः मुझ जैसे अल्पज्ञ का इस पर लेखनी-व्यापार यद्यपि दुःसाहस-मात्र है फिर भी कालिदास की रघुवंश वर्णन-विषयक—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

इस सदुक्ति के आधार पर किये गये मेरे इस साहस को विद्वज्जन क्षम्य समझेंगे ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

ऋषि-प्रणीत दर्शन आदि संस्कृतसाहित्यरत्नाकर के वे रत्न हैं जिनको अब तक अगणित विद्वानों ने बुद्धिरूपी कसौटियों पर कसकर अपनी-अपनी प्रतिभाभिव्यक्ति की है। अतः इस दिशा का अनुसरण करने वाले किसी का भी तद्विषयक मौलिकता का अभिमान करना साहस-मात्र है। फलस्वरूप मुझे यह स्वीकार करने में लेशमात्र संकोच नहीं कि यह कृति भी मेरे टूटे-फूटे शब्दों में विद्वानों की कृतियों का तात्त्विक रूप है जिसको उन विद्वानों के आधमर्ण्यस्वरूप मैंने अपने प्रिय छात्रों के लिये प्रस्तुत किया है। अतः यदि इससे उन्हें यत्किंचित् भी सहायता प्राप्त हो सकी तो मेरा प्रयत्न सफल है तथा त्रुटियों से परिपूर्ण होते हुए भी मुझे 'स्वान्तःसुखाय' रूपी सन्तोष है।

समीप रहने पर तो छपते-छपते तक भी बहुत सी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं किन्तु लेखक के दूर होने पर यह सम्भव नहीं। यही बात इस पुस्तक के विषय में भी समझनी चाहिये। अतः प्रयत्न करने पर भी जहाँ जो त्रुटि रह गई हो, यदि विद्वज्जन उसको निर्दिष्ट करने का कष्ट करेंगे तो मैं उसे कृतज्ञतापूर्वक द्वितीय संस्करण में यथाशक्ति शुद्ध करने की चेष्टा करूँगा।

विनयावनत—

रामशरण त्रिपाठी

खोये हुये रत्नों की खोज में

विषय-प्रवेश



संक्षिप्त दार्शनिक परिचय

यह संसार आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन तापों से परिपूर्ण है। इन त्रिविध तापों से सर्वथा मुक्ति पाने के लिए ऋषियों ने अपने सतत परिश्रम एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन द्वारा जिस साधन को ढूँढ़ निकाला वह संस्कृत में 'दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। ऋषियों एवं उच्च मननशील मनीषियों के मस्तिष्क की यह वह उपज है जिसके समान जीव, जगत्, मोक्ष एवं ब्रह्म के विषय में अन्य कोई और कहीं भी नहीं हो सकी। यह दर्शन शास्त्र ही अन्य सम्पूर्ण विद्याओं के पढ़ने से उत्पन्न भ्रमरूपी अन्धकार के दूर करने के लिये दीपक के समान है; सब कर्मों के अनुष्ठान का एकमात्र साधन है तथा सम्पूर्ण धर्मों का आधार है :—

प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

ये दर्शन छै हैं :—(१) पूर्वमीमांसा, (२) उत्तरमीमांसा (वेदान्त), (३) सांख्यदर्शन, (४) योगदर्शन, (५) न्यायदर्शन, (६) वैशेषिकदर्शन।

इस दार्शनिक धारा का उद्गम ऋग्वेद से हुआ है। महर्षि प्रजापति परमेष्ठी ऋग्वेद में जगत् के मूलतत्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी (ऋ० १०।११९।२) तथा संवनन आंगिरस ऋषि वस्तुतत्त्व की पहचान के लिए तर्क की उपयोगिता की ओर सङ्केत करते हुए कहते हैं, 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' अर्थात् आपस में मिलो, विषय का विवेचन करो और एक दूसरे के मन को पहचानो (ऋ० १०।१९१।२)।

इन दोनों ऋचाओं में दार्शनिक विचारधारा के अलग-अलग स्रोत उपलब्ध होते हैं; प्रथम-प्रज्ञामूलक; जो अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा तत्त्वों का विवेचन करता हुआ अद्वैत तत्त्व पर स्थिर हो जाता है और दूसरा तर्कमूलक, जो अपनी तार्किक बुद्धि के द्वारा तत्त्वों की समीक्षा करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर अभीष्टसिद्धिरूपी सीमा पर विरत होता है। इनमें से प्रथम का उदाहरण है वेदान्त तथा दूसरे का शेष सब दर्शन।

वेदान्त—ऊपर बतलाया जा चुका है कि इसका उद्गम ऋग्वेद है। इसमें

वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों का अध्यात्मवाद विकसित हुआ है अतः मूलरूप में यद्यपि उपनिषदों को ही वेदान्त कहते हैं परन्तु आगे चल कर इन्हीं उपनिषदों के आधार पर जिस धार्मिक एवं दार्शनिक परम्परा का विस्तार हुआ है वह सब वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसी कारण वेदान्तसार में 'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च' कहा है जिससे भगवद्गीता आदि आध्यात्मिक शास्त्र भी वेदान्त के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस अध्यात्मवाद की विशद व्याख्या शङ्कर ने की है अतः ये भारतीय दार्शनिक विचारकों में सर्वशिरोमणि समझे जाते हैं।

शङ्कराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र चरम सत्य है। जीव और जगत् की सत्ता मिथ्या है। अज्ञान (माया, अविद्या) के कारण जीव और जगत् की सत्ता प्रतीत होती है किन्तु वह रस्सी में सर्प की प्रतीति के समान असत्य है और जब ज्ञान के द्वारा यह आभास नष्ट हो जाता है तो ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। शङ्कर के अद्वैतवाद के अनुसार यह ब्रह्म निर्गुण है, अनन्त है किन्तु माया से उपहित होकर जीव का उपास्य एवं जगत् का सृष्टिकर्ता है। इसी ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही प्रत्येक जीव के जीवन का लक्ष्य है। इसी ऐकात्म्य का अनुभव करना ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव है। इसका दूसरा नाम मोक्ष है। इसकी प्राप्ति ज्ञान के द्वारा होती है क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि श्रुतियों में ज्ञान को आत्मस्वरूप बतलाया गया है अतः आत्मस्वरूप की प्राप्ति ज्ञानरूपी आत्मा के अतिरिक्त अन्य साधनों से नहीं हो सकती। भक्ति और कर्म उसके सहायक हैं क्योंकि इनके द्वारा आत्मसंस्कार होने पर ही मनुष्य ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनता है और इस प्रकार ज्ञान के प्राप्त होने पर जीव को ब्रह्मस्वरूप स्वात्मानुभव होता है। इस अवस्था में जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता प्रत्युत इसकी सत्ता अनन्त ब्रह्म में विलीन हो जाती है, या यों कहिये कि परिच्छिन्न जीव अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस परिस्थिति में जगत् की सत्ता भी विलीन हो जाती है क्योंकि जीव और जगत् दोनों की सत्ता व्यावहारिक है—जब तक जीव सांसारिक बन्धनों में रहता है तभी तक उनकी प्रतीति होती है किन्तु मोक्ष की दशा में इन सबका स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप अखण्ड ब्रह्म में पर्यवसान हो जाता है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यही सच्चे आध्यात्मिक जिज्ञासु की आकाङ्क्षा एवं उसकी नैतिक साधनाओं की सिद्धि है।

ब्रह्म—यद्यपि 'ब्रह्म' यह शब्द जिस प्रकार टेढ़े-मेढ़े वर्णों से बना है उसी प्रकार इसका विवेचन भी बड़ा ही टेढ़ा है पर अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार उपाधिरहित, निर्विकार तथा निर्विकल्पक सत्ता का नाम ब्रह्म है। शङ्कर के अनुसार यही एकमात्र पारमार्थिक है अन्य सब मिथ्या है। वह निर्गुण एवं निर्विशेष है अतः किसी भी प्रकार उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता; केवल निषेधात्मक निर्वचन ही उसके निर्देशक हैं इसीलिए उपनिषदों में 'नेति नेति' को ही ब्रह्म-वाचक मूलमन्त्र कहा गया है। वह समस्त वस्तुओं, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा वाणी से परे है अतः किसी भी प्रकार उसकी कल्पना सम्भव नहीं, उसकी कोई परिभाषा नहीं। परिभाषा उसी की सम्भव है जो परिच्छिन्न हो; ब्रह्म का आदि-अन्त नहीं अतः उसकी कोई परिभाषा नहीं हो सकती। इसी कारण व्यास ने जिन बातों से ब्रह्म का निर्देश किया है उन्हें ब्रह्म का लक्षण न कहकर ब्रह्म का लिङ्ग (लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्) कहा है। ब्रह्म के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान तो स्वरूपानुभव में ही होता है पर इन लिङ्गों के द्वारा यत्किञ्चित् संकेत अवश्य हो जाता है जो ब्रह्मजिज्ञासु के लिये ब्रह्मविषयक अगाध सागर में प्रकाश-स्तम्भ का काम देता है। वह जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है—उसी से सम्पूर्ण सृष्टि होती है, उसी में स्थित रहती है एवं अन्त में उसी में सम्पूर्ण प्रपञ्च विलीन हो जाता है।

माया से युक्त होकर यही निर्गुण ब्रह्म सगुण परमेश्वर कहलाता है। विश्व की सृष्टि–स्थिति–लय का एकमात्र कारण यही सगुण ब्रह्म है। यही इस सांसारिक प्रपञ्च का स्रष्टा, नियन्ता तथा हन्ता है। यह जगत् अनन्त रहस्यों से परिपूर्ण है। इसमें अनन्त जीव हैं, उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। उनके फलों के अनुसार उनकी व्यवस्था करना सामान्य ज्ञान-सापेक्ष नहीं। इसीलिये उसे सर्वज्ञ, सर्वविद्, सर्वान्तिर्यामी तथा सर्वशक्तिमान् माना जाता है।

जीव—शंकराचार्य के अनुसार शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोग करने वाले आत्मचैतन्य को जीव कहते हैं—'अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी' (शां० भा०)। यह एक चेतन तत्त्व है और हमारे अनुभव का आधार है। मूर्च्छाद्यवस्थापन्न शरीर में चैतन्याभाव देखकर वैशेषिक मतानुयायी चेतनता को आत्मा का कादाचित्क गुण

मानते हैं किन्तु वेदान्ती आत्मा को चेतनस्वरूप ही मानते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्म ही माया के सम्पर्क से जीवरूप में विद्यमान रहता है। ब्रह्म के साथ जीव की स्वभावगत एकता है अतः ब्रह्म के समान उसका भी चैतन्यस्वरूप होना निर्बाध है।

शरीर में स्थित इस चैतन्य के अनुभव बहुत ही सामान्य एवं सीमित हैं। वह सब कुछ जानने में सर्वथा असमर्थ है किन्तु शङ्कराचार्य जीव के इस परिच्छिन्न रूप को उसका वास्तविक स्वरूप नहीं मानते प्रत्युत उसे भी ब्रह्म का अंश होने के कारण ब्रह्मस्वरूप ही मानते हैं। इस प्रकार अपने मूलरूप में जीव भी अनन्त चैतन्यस्वरूप है पर अविद्याजनित उपाधियों के कारण उसके अनुभव एवं ज्ञान का क्षेत्र सीमित है। अज्ञान के अंशभूत रजोगुण के द्वारा यही जीव कर्त्ता तथा भोक्ता बनता है—अविद्यामूलक अहंकार के कारण वह अपने आप को कर्त्ता समझता है और इस कर्तृत्वभावना के कारण वह अपने किये हुए कर्मों का फलभोक्ता बनता है। इसी के लिये उसे सांसारिक जन्म-मरण में बँधना पड़ता है किन्तु जब यह अविद्या ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाती है तो स्वात्मानुभव होने के कारण जीव को अपने असीम चैतन्य का साक्षात्कार हो जाता है और वह इन सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

जगत्—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' यह अद्वैत मत का सिद्धान्त है। इसके अनुसार यह सम्पूर्ण संसार तथा सांसारिक प्रपञ्च माया है, धोखे की टट्टी है, नितान्त असत्य है। फिर यह सब प्रतीत क्यों हो रहा है? ये चलते-फिरते मनुष्य, पर्वतों की गगनचुम्बी चोटियाँ, पाताल का पता लगाने वाले अगाध गर्त, अपने अमृततुल्य दुग्ध द्वारा आप्यायित करने वाली गायें, भयानक दाढ़ों से हाथियों के गण्डस्थल विदीर्ण करने वाले हिंसक सिंह-व्याघ्रादि, यह सब है क्या? इन सब का उत्तर यही है कि यही सब तो माया है। ऐन्द्र-जालिक अपने हाथ में आम की गुठली लेकर पेड़ उगा देता है, मिठाइयों के ढेर के ढेर दर्शकों के समक्ष उपस्थित कर देता है किन्तु यह सब क्या है? माया। माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह सब जादूगर के प्रदर्शन के समान मायावी ईश्वर का खेल है 'मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया'। इसकी वास्तविकता केवल भ्रम है, देखने मात्र के लिये है किन्तु वास्तव में पिता भी माया, माता भी माया, जामाता भी माया, काया भी माया, जाया भी माया, भैया भी माया, दादू भी माया, उपकार भी माया, अपकार भी माया, निदाघ की

भयानक धूप से तवे के समान प्रतप्त काली सड़क पर नंगे सिर-पैर बोरों से लदे हुए ठेले खींचने वाले मजदूर का भूख के मारे पीठ से चिपका जाता पेट भी माया, खस की टट्टी के अन्दर पाचक चूर्णों की सहायता से हलुआ-पूड़ी पचाने की धुन में करवटें वदलने वाले सेठों और चौवों की चौड़ी तोंदें भी माया; महलों के भोग-विलास भी माया, श्मशान में दिवंगत आत्मा के वियोगवश अश्रुपूर्ण नेत्र एवं नत मस्तक भी माया; गांधी भी माया, गोडसे भी माया—यह सब माया ही माया, और कुछ नहीं।

यह है शंकर की माया जो कि हर प्रकार की सांसारिक विषमताओं में लड़-खड़ाते हुए व्यक्तियों का एकमात्र अवलम्वन एवं प्रियतम व्यक्ति-वस्तुओं के वियोगरूपी निष्कृप कृपाणों से टुकड़े-टुकड़े हो गये हुए हृदयों की पीड़ा को थोड़ी देर शान्त करने का मलहम है।

फिर भी इस प्रत्यक्ष सांसारिक सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसलिए शङ्कराचार्य ने तीन प्रकार की सत्तायें मानी हैं—

(१) प्रातिभासिक सत्ता—अर्थात् वह सत्ता जो प्रतीतिकाल में तो सत्य-स्वरूप प्रतिभासित हो किन्तु उत्तरकाल में बाधित हो जाय, जैसे रस्सी में सर्प या सीपी में चाँदी की सत्ता।

(२) व्यावहारिक सत्ता—अर्थात् वह सत्ता जो कि व्यवहार के लिये संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में रहती है। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई नाम है और कोई न कोई रूप। इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता सांसारिक व्यवहार के लिये अत्यन्त आवश्यक है किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर यह सब बाधित हो जाती है अतः नितान्त सत्य नहीं।

(३) पारमार्थिक सत्ता—अर्थात् वह सत्ता जो कि इन सम्पूर्ण पदार्थों से नितान्त विलक्षण एवं त्रिकाल में अबाध्य होने के कारण ऐकान्तिक सत्य है।

इस प्रकार यह सब दृश्य जगत् हमारी स्थूल इन्द्रियों के लिये तो अवश्य सत्य है किन्तु जब इसे ही ज्ञान की दृष्टि से देखते हैं तो यह सब असत्य हो जाता है, फिर भी जब तक स्वात्मसाक्षात्कार न हो जाय तब तक इसमें व्यावहारिक दृष्टिकोण ही रखना समुचित है, क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मसाक्षात्कार इस नाम-रूपात्मक जगत् के उत्तरोत्तर परिज्ञानान्तर ही सम्भव है अन्यथा नहीं। इस प्रकार की व्यावहारिक सत्ता की शक्ति ही इस संसार के सम्पूर्ण व्यवहारों को नियन्त्रित

किये हुए है अन्यथा बड़े-बड़े मिल-मालिकों का धन आज ही अपना समझकर (क्योंकि यह माया है) चाहे जो रख ले तथा 'नारि नारि सब एक है जस मेहरि तस माय' ऐसा समझकर न जाने क्या से क्या अनर्थ कर बैठे।

मीमांसा—मीमांसा का अभिधेय अर्थ है 'विवेचन' किन्तु लक्ष्यार्थ में इसका अभिप्राय वेदों के तात्पर्य-विवेचन से है। अतः वैदिक-परम्परा की दो प्रमुख धाराओं के प्रतिनिधि एवं कर्म तथा ज्ञानप्रधान ब्राह्मण और उपनिषद्-ग्रन्थों के आश्रित होने के कारण मीमांसा के पूर्व और उत्तर ये दो भाग समझे जाते हैं। सामान्य अर्थ में मीमांसा शब्द पूर्व और उत्तर दोनों का बोधक है किन्तु विशेष अर्थ में 'मीमांसा' के द्वारा पूर्वमीमांसा का ही बोध होता है। उत्तर मीमांसा के लिए प्रायः वेदान्त शब्द प्रयुक्त होता है।

यह पूर्णतः एक वेदमूलक सम्प्रदाय है। वेद नित्य और सर्वोपरि सत्य है अतः वही सर्वथा प्रमाण है। मीमांसक कहते हैं कि वेद ईश्वर की रचना नहीं वरन् नित्य और स्वतः सत्तावान् है। वेद शब्द-स्वरूप है अतः शब्दप्रमाण का मीमांसा में विशेष स्थान है किन्तु इनकी शब्दविषयक कल्पना अन्य दर्शनों से भिन्न है। इनका कथन है कि मूल शब्द यह नहीं जिसे हम बोलते या सुनते हैं प्रत्युत वह एक नित्य एवं ध्वनिहीन सत्ता है। ध्वनि के रूप में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति को 'स्फोट' कहते हैं। वास्तविक वेद इसी नित्य और ध्वनिहीन शब्द के रूप में है। उसकी नित्य और स्वतन्त्र सत्ता है एवं इस नित्य वेद का प्रत्येक कल्प में सृष्टि के साथ आविर्भाव होता रहता है।

मीमांसक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छै प्रमाण मानते हैं किन्तु यह एक निरीश्वरवादी सम्प्रदाय है। वेदमूलक होते हुए भी इसमें ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया। यद्यपि यह बड़े विस्मय का विषय है कि पूर्ण रूप से वैदिक दर्शन होते हुए भी इसमें ईश्वर के लिए स्थान नहीं। इनका कथन है कि जीवों के कर्म से एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है जो स्वतः कर्मफल का नियमन करती है। इसे 'अपूर्व' कहते हैं। जीवों के व्यक्तिगत अपूर्व से उनके जन्म-जन्मान्तर के रूप का नियमन होता है और समस्त जीवों के अपूर्व की समष्टि से कल्प-कल्प में सृष्टि का आविर्भाव होता है। इनके अनुसार सृष्टि या प्रलय कोई कालिक घटनायें नहीं प्रत्युत ये इस अनन्त विश्व के निरन्तर

प्रवर्तमान क्रम हैं अतः इनके संचालन के लिए ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है।

जगत् की सत्ता मीमांसकों को मान्य है। इसके अतिरिक्त ये लोग स्वर्ग और नरक तथा पुण्य-पाप भी मानते हैं। ईश्वर के न मानने पर भी मीमांसा विविध देवताओं की सत्ता स्वीकार करता है। ये देवता भिन्न-भिन्न यज्ञकर्मों के आश्रय हैं। इन्हीं की प्रसन्नता अथवा शान्ति के लिए यज्ञ-कर्मों का विधान है। इनके प्रसन्न होने से वित्त-पुत्रादि की प्राप्ति होती है।

सांख्य—यह द्वैत मत का प्रतिपादक दर्शन है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं के परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है। इनमें प्रकृति जड़ है, एक है; किन्तु पुरुष चेतन है और अनेक है। यह सत्कार्यवाद का समर्थक है। इसकी दृष्टि से कारण में कार्य अव्यक्तरूप से विद्यमान रहता है। कारण-सामग्री के द्वारा वह कार्य अपनी अव्यक्तावस्था को छोड़ कर व्यक्तावस्था में आ जाता है। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। इनमें वैषम्योत्पत्ति होवे ही सृष्टि होती है किन्तु यह सृष्टि कोई नवीन उत्पत्ति नहीं वरन् कारण में अन्तर्निहित सम्भावनाओं का कार्यरूप में उद्भूतिमात्र है। सांख्य-मत के अनुसार कारण तत्त्व में कार्य पदार्थ अव्यक्त रूप से निहित रहता है। कारण-प्रक्रिया उस अव्यक्त पदार्थ की अभिव्यक्तिमात्र। प्रकृति में जगत् के समस्त पदार्थों की अव्यक्तरूप से सत्ता रहती है इसलिए प्रकृति का नाम 'अव्यक्त' है। कारण में कार्य की अव्यक्त सत्ता का यह सिद्धान्त सांख्यमत में सत्कार्यवाद कहलाता है।

सांख्य के अनुसार आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीन प्रकार के दुःख हैं। इन सबका कारण अविद्या है। यद्यपि पुरुष अपने मूलरूप में शुद्ध चैतन्यमात्र है, वह निर्गुण एवं जगत् का निरपेक्ष साक्षीमात्र है किन्तु प्रकृति के संयोग में अविद्यावश होकर वह अपने स्वरूप को भूल जाता है और अपने को कर्म का कर्त्ता समझने लगता है तथा कर्म का भोक्ता बनता है अर्थात् अपने को कर्त्ता समझने के कारण उसे जन्म-जन्मान्तर में दुःखरूप कर्मफल भोगने पड़ते हैं। इस जन्म-कर्म-परम्परा का नैरन्तर्य ही पुरुष का बन्धन है एवं इससे मुक्ति ही उसका मोक्ष (कैवल्य) है।

ये बन्धन और दुःख अविद्याजन्य हैं अतः विद्या अथवा ज्ञान द्वारा ही

कैवल्य सम्भव है। सांख्य के अनुसार पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही ज्ञान है। पुरुष का स्वरूप विशुद्ध, रागक्रियाहीन चैतन्य है, वह साक्षीमात्र है, कर्त्ता तथा भोक्ता नहीं। जब उसे अपना यह शुद्ध साक्षीस्वरूप परिचित हो जाता है तो उसका अहंकार नष्ट हो जाने के कारण वह अपने आपको कर्त्ता नहीं मानता; कर्तृत्वभावना के नष्ट हो जाने से भोक्तृत्व भी नष्ट हो जाता है अतः वह जन्म-जन्मान्तर में कर्मफल का भागी नहीं बनता। इस प्रकार जब पुरुष को अपने शुद्ध साक्षी चैतन्य स्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है तो वह जन्म-कर्म-परम्परा के चक्र से मुक्त हो जाता है। जन्म-चक्र ही पूर्वोक्त त्रिविध दुःखों का कारण है अतः उससे मुक्त होकर वह उन दुःखों से भी मुक्ति पा जाता है और अपने शुद्ध केवल स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था सांख्य में कैवल्य कहलाती है।

योग—पतञ्जलि-प्रतिपादित योगदर्शन सांख्य की ही व्यावहारिक पूर्ति करता है। सांख्य में पुरुष के कैवल्य को परमार्थ माना गया है। यह कैवल्यसिद्धि विवेक ज्ञान द्वारा साध्य है और विवेक ज्ञान का साधन तत्त्वाभ्यास है; केवल इतनी ही बात सांख्यकारिका में कही गई है। इसके अतिरिक्त कैवल्यसिद्धि की कोई विस्तृत व्यावहारिक प्रणाली सांख्य में नहीं पायी जाती है। इस अभाव को पूर्ति योगदर्शन के द्वारा होती है क्योंकि उसमें कैवल्य-प्राप्ति की व्यावहारिक प्रणाली के विविध अङ्गों का विस्तृत निरूपण किया गया है।

योगसूत्र की परिभाषा के अनुसार समस्त चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)।

चित्त प्रकृति का ही एक परिणाम है और सदा चञ्चल रहता है—लौकिक जीवन और अनुभव के प्रसङ्ग में वह सदा नव-नव पदार्थों का आकार ग्रहण करता रहता है। चित्त के इस विषयाकार रूपग्रहण को ही 'वृत्ति' कहते हैं। वृत्तियोंका निरन्तर क्रम ही हमारा जीवन है। कैवल्य अथवा योग की अवस्था में समस्त चित्तवृत्तियों का पूर्ण समाधान हो जाता है। इसीलिए उसे समाधि भी कहते हैं। इस योग की अवस्था में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होने पर पुरुष समस्त विषयों से अलग होकर, समस्त संसर्गों से मुक्त होकर अपने केवल चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसीलिए इसे कैवल्य कहते हैं।

इस योग के यम-नियमादि अङ्ग हैं। इन अङ्गों के अभ्यास से वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं एवं चित्त एकाग्र हो जाता है। यही समाधि की दशा है। इस परिस्थिति में द्रष्टा अपने रूप में स्थित हो जाता है और कैवल्यस्थिति का अनुभव करता है।

सांख्य के पचीस तत्त्वों के अतिरिक्त योग में छब्बीसवाँ तत्त्व 'ईश्वर' माना जाता है। इसीलिये योग को 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं। योग का मत है कि जो पुरुषविशेष क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (वासना-संस्कार) तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँचों दुःखों से मुक्त है वही 'ईश्वर' है। साधारण पुरुषों से उसकी यही विशेषता है कि साधारण पुरुष उक्त क्लेशों से व्याप्त रहते हैं पर वह (ईश्वर) इनसे मुक्त रहता है। इस प्रकार ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा ही ईश्वर है। इसके प्रणिधान से, चित्त के एकाग्र लगाने से अथवा समग्र कर्मफलों के समर्पण से समाधि की सिद्धि होती है।

एक ईश्वर के तत्त्व को छोड़ कर सांख्य और योग के अन्य दार्शनिक सिद्धान्त समान हैं। इसीलिए कहा गया है :—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

न्याय—यह मुख्य रूप से एक प्रमाणशास्त्र है और ज्ञान के साधन तथा उसकी यथार्थता का निर्णय ही उसका मुख्य विषय है। इसके अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर तीन सत्य और सनातन सत्तायें हैं। जगत् ईश्वर की सृष्टि है किन्तु उसकी वास्तविक सत्ता है, वेदान्त के विश्व की तरह वह केवल माया नहीं।

न्याय के अनुसार प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थों से यथार्थ ज्ञान द्वारा निःश्रेयस का अधिगम ही जीवन का परम लक्ष्य है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है पर वास्तविक ज्ञान होता कैसे है इसकी यथार्थ मीमांसा न्यायशास्त्र में की गई है।

न्याय की दार्शनिक दृष्टि 'बहुत्वसंवलित यथार्थवाद' है—इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा, ईश्वर ऐसे नित्यपदार्थ विद्यमान हैं जिनके कारण ही इस जगत् की सत्ता होती है। दृश्य जगत् का समवायि कारण परमाणु है, ईश्वर निमित्त कारण है जो कि अनुमानगम्य है। इसकी इच्छा होने पर एक परमाणु दूसरे

से मिल कर द्वयणुक की उत्पत्ति करता है। तीन द्वयणुओं के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु) की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार आकाशादि पञ्चतत्त्व से उत्पन्न होते हैं।

न्याय का मत है कि मुक्ति में सुख और दुःख दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। मन साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। मिथ्याज्ञान के कारण ही दोष, प्रवृत्ति, जन्म तथा दुःख की उत्पत्ति होती है। इस मिथ्याज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान से होता है। तभी मोक्ष होता है।

वैशेषिक—यह दर्शन न्याय का समान तन्त्र माना जाता है। वस्तुतः न्याय और वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों में सांख्य और योग के सिद्धान्तों की तरह बहुत समता है। भौतिकविज्ञान की दृष्टि से इसमें सत्य की मीमांसा की गई है। न्याय का प्रधान लक्ष्य अन्तर्जगत् तथा ज्ञान की मीमांसा है किन्तु वैशेषिक का लक्ष्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा करना है। इसके अनुसार द्रव्यादि सात पदार्थ हैं। आत्मा का यथार्थ ज्ञान आत्मेतर पदार्थों के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर है। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा तथा आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान पर ही निर्भर हो सकती है।

इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है।

उपनिषत्-कालीन जिस तत्त्वज्ञान का सङ्केत 'तत्त्वमसि' (जीव तथा ब्रह्म एक हैं) इस महावाक्य में है उसी की यथार्थ व्याख्या करने के लिए उक्त षड्-दर्शनों की उत्पत्ति हुई है। भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन करने पर भी इन सब का लक्ष्य एक ही है—अनेकता के भीतर रहनेवाली एकता को भली-भाँति पहचान कर आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति रूप निःश्रेयस की प्राप्ति। यही भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है जिसकी ओर शिव-महिम्न में श्री पुष्पदन्ताचार्य ने तथा रघुवंश में महाकवि कालिदास ने सङ्केत किया है :—

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव (शि० म०)
बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥ (र० वं०)

अर्थात् भगवती भागीरथी के भिन्न-भिन्न प्रवाहों का चरम लक्ष्य समुद्र ही है। वे सब वहाँ पहुंचकर एक हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के लिये शास्त्रों एवं दर्शनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हों किन्तु उन सबका लक्ष्य एक ही ईश्वर-प्राप्ति है :—

'जेहि तेहि भाँतिन सेइबो एकइ नन्दकिशोर'।

उक्त छै दर्शन वेदों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को प्रामाणिक तथा सर्वथा सत्य मानते हैं अतः इनको आस्तिक दर्शन कहते हैं। इनके अतिरिक्त चार्वाक, जैन और बौद्ध ये तीन नास्तिक दर्शन भी हैं। ये वेदों को प्रमाण नहीं मानते इनमें से चार्वाक का चलाया हुआ लौकायत मत चार्वाकदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। यह नितान्त भूतवादी है और सांसारिक सुख को ही जीवन का अन्तिम ध्येय वतलाता है। यद्यपि इनके कोई विशेष ग्रन्थ नहीं उपलब्ध होते फिर भी दर्शन-ग्रन्थों में जहाँ भी इनके सूत्र या निर्देश मिलते हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये लोग अनुमान या शब्दप्रमाण की सत्ता नहीं मानते। पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूत पदार्थों से ही यह संसार बना हुआ है। इन चारों के सम्मिश्रण से ही शरीर की उत्पत्ति है एवं चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है 'चैतन्यविशिष्टकायः पुरुषः'। जिस प्रकार कत्था-चूना या हल्दी-चूना के संयोग से लालिमा उत्पन्न हो जाती है, समान घृत-मधु के संयोग से विष की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार चारों जड़ तत्त्वों के सम्मिश्रण से शरीर में चेतनता उत्पन्न हो जाती है। ये लोग ईश्वर को नहीं मानते। इनके मत से इस जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय स्वभावतः ही होते हैं। ये लोग मरण को ही मोक्ष मानते हैं। इनके लिए स्वर्ग-नरक नामक कोई अन्य लोक नहीं। संसार में जो सुखी है वह स्वर्ग भोग रहा है और जो दुखी है वह नरक भोग रहा है। इस प्रकार ये लोग आधिभौतिक सुख के अनुयायी हैं। 'खाओ पिओ मौज उड़ाओ' यह इनका सिद्धान्त है:—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

ये लोग वेदों की निन्दा करते हैं इसीलिए इन्हें नास्तिक कहते हैं (नास्तिको वेदनिन्दकः)। इनका कथन है कि मिथ्या, विरोध एवं पुनरुक्ति-दोष-दूषित

होने के कारण वेदों का कोई प्रामाण्य नहीं। वैदिक ऋषि वञ्चक थे। वैदिक विधान सब अपनी जीविका के लिए रचे हुए ब्राह्मणों के ढोंग हैं। यदि यज्ञ में वलिदान किया हुआ पशु स्वर्ग जाता है तो यजमान अपने पिता का ही बलिदान क्यों नहीं करता ? इत्यादि।

दूसरा नास्तिक दर्शन जैन दर्शन है। यद्यपि यह ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता फिर भी श्रेय और शिव की वास्तविकता में इसका विश्वास है। कर्म और अहिंसा के सिद्धान्त इसके आधार हैं। कर्म जीवन का नैतिक नियम है और अहिंसा मनुष्य का सर्वोत्तम गुण है। अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन में भी मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। इसकी संज्ञा 'निर्वाण' है।

तीसरा नास्तिक दर्शन बौद्ध दर्शन है। इस सम्प्रदाय के १८ सम्प्रदायों में से चार अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :—

(१) वैभाषिक—बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद
(२) सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद
(३) योगाचार—विज्ञानवाद
(४) माध्यमिक—शून्यवाद

'सत्ता' विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर ही यह उक्त श्रेणी-विभाग किया गया है।

व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है। व्यावहारिक जगत् में बाह्य वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सकता अतः बाह्यार्थ को प्रत्यक्षरूप से सत्य मानने वाले बौद्धों को वैभाषिक कहते हैं।

दूसरा मत बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष-सिद्ध न मान कर अनुमेय मानता है। इस मत के अनुयायी सौत्रान्तिक कहलाते हैं।

तीसरा मत बाह्य भौतिक जगत् को नितान्त मिथ्या स्वीकार कर चित्त को ही एक मात्र सत्य पदार्थ मानता है। यह मत विज्ञानवादी योगाचार दार्शनिकों का है।

चौथा मत वह है जो चित्त को भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसके अनुसार न बाह्यार्थ है न विज्ञान, प्रत्युत शून्य ही परमार्थ सत्य है। ये शून्याद्वैत के अनुयायी हैं। इनके अनुसार समस्त जगत् की सत्ता प्रातिभासिक है एवं शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। ये लोग शून्यवादी माध्यमिक कहलाते हैं। इस प्रकार 'सत् के ही

विषय में विभिन्न कल्पना-चतुष्टय के आधार पर बौद्ध दर्शन के चार भाग किये गये हैं। निम्नलिखित श्लोक में इन चारों मतों का संग्रह है:—

सुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

बुद्ध एक दार्शनिक सिद्धान्त के संस्थापक की अपेक्षा एक नैतिक धर्म के प्रवर्तक अधिक थे। जीवन और जगत् की समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण चिन्तनात्मक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था, इसलिए इस दर्शन में तात्त्विक विवेचन उतना अधिक नहीं। इनके अनुसार संसार दुःखमय है किन्तु इस दुःख की निवृत्ति निर्वाणावस्था में सम्भव है।



द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण

हर्ष का विषय है कि वेदान्तसार का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। प्रथम संस्करण में कुछ मुद्रण की त्रुटियाँ रह गई थीं। यथाशक्ति उनको दूर करने का प्रयास किया गया है। साथ ही भूमिका में बहुत-कुछ उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विषय भी संलग्न कर दिया गया है जिससे छात्रों को वेदान्तसंबंधी प्रारम्भिक ज्ञानार्जन करने के लिये अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इससे सरलतापूर्वक सहायता प्राप्त होगी।

आशा है कि वेदान्तसार का यह परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण वेदान्त-निष्णात स्नातकों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

विनयावनत—

रामशरण त्रिपाठी

उपनिषद् और वेदान्त

सदानन्द ने वेदान्त की परिभाषा देते हुये लिखा है—'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्' अर्थात् उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मान कर चलने वाला शास्त्र वेदान्त है। उपनिषद् शब्द से ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य का बोध होता है जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ था। पर इस शब्द के मूल अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है। यह उप और नि उपसर्ग-पूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने से बना है। सद् धातु के विशरण (नष्ट होना), गति (जाना या प्राप्त होना) तथा अवसादन (शिथिल करना) आदि तीन अर्थ हैं ('षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु')। शंकराचार्य ने इन तीनों अर्थों का सुन्दर समन्वय अपने कठोपनिषद्भाष्य में किया है—इसके अनुशीलन से मुमुक्षुजनों की संसारबीजरूपी अविद्या नष्ट हो जाती है (विशरण), वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति, उपनिषद्यते ब्रह्मसमीपम्) तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं (अवसादन)।

अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्-विनाशनाद्········परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्·····गर्भवासजन्मजराद्युपद्रव-वृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन वा······ ब्रह्मविद्योपनिषत्।

शंकराचार्य ने यह भी कहा है कि उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या तथा गौण अर्थ है ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थविशेष—

'तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या—'।

नि-पूर्वक सद् धातु का अर्थ बैठना भी होता है। 'उप' उपसर्ग समीप का भाव सूचित करता है। इस प्रकार उपनिषद् शब्द समीप में बैठने का भाव ध्वनित करता है। इस 'समीप में बैठने' के कारण की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। M. R. Bolas का मत है कि इसका मूल अर्थ अग्नि के समीप

वैठना है क्योंकि इन ग्रन्थों में निहित वार्तालाप बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर हुआ करते थे। J. W. Haver ने समाधि में निश्चल वैठने के भाव को उपनिषद् से संवद्ध करते हुए इसका अर्थ 'तपस्या तथा ध्यान से प्राप्त रहस्यात्मक ज्ञान' किया है। नारायण ने अपनी मनुस्मृति की टीका में उपनिषदों को ऐसे ग्रन्थ माना है जिन्हें शिष्य गुरु के समीप वैठकर पढ़े।

वस्तुत: उपनिषद् शब्द का मूल और प्राचीनतम भाव था—किसी गुप्त ज्ञान की प्राप्ति के लिये शिष्य का गुरु के समीप वैठना। विकास की दूसरी दशा में इसका अर्थ हुआ—वह गोपनीय ज्ञान या सिद्धान्त, गो ऐसी गुप्त स्थिति में प्रदान किया जाय। सामान्यतः उपनिषदों के लिये 'रहस्यम्' पर्यायवाची प्रयुक्त किया जाता है जिसका अर्थ 'रहसि भवम्' या 'एकान्त में बताया जा सकने वाला' है। स्वयं उपनिषदों में ही 'इति रहस्यम्' 'इत्युपनिषद्' आदि शब्द गुप्त सिद्धान्तों के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। प्रायः सभी उपनिषदों में यह चेतावनी पाई जाती है कि यह विद्या किसी अपात्र को न दी जाय। छान्दोग्य तो यहाँ तक कहता है कि यह विद्या केवल विश्वासपात्र शिष्य या अपने ज्येष्ठ पुत्र को ही दी जाय, और किसी को नहीं; चाहे वह विनिमय में समुद्रवेष्टित तथा धनयुक्त पृथ्वी ही या इससे भी अधिक क्यों न दे डाले—

इदं तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने। नान्यस्मै कस्मैचन। यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात्। एतदेव वा ततो भूयः।

उपनिषद् शब्द के इस मूल अर्थ के अनुसार प्राचीन उपनिषदों में दार्शनिक दृष्टि से वहुत असंवद्ध अंश भी हैं।

उपनिषद् 'रहस्य' ही तो था और प्रत्येक विषय जो सामान्य जनता के लिए न होकर केवल कुछ विशेष पात्रों तक ही सीमित था—भले ही वह कोई गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त हो, या कोई मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना आदि अथवा कोई निरर्थक रूपक—उपनिषद् कहलाता था। ऐसी अनेक वस्तुयें प्राचीन उपनिषदों में वीच-वीच में मिली हुई हैं।

'प्राप्त उपनिषदों की संख्या लगभग २२० है पर इनमें से अधिक से अधिक २० ही प्राचीन कहे जा सकते हैं। शेष सव वहुत वाद की रचनायें हैं। सर्व-

प्राचीन उपनिषद् वे हैं जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्त में जुड़े हुये प्राप्त होते हैं। ऐसे उपनिषद् संख्या में छः हैं और दो-दो की संख्या में वेदत्रयी में विभक्त हैं—(क) ऐतरेय (ऐतरेय ब्राह्मण, ऋग्वेद), कौषीतकि (कौषीतकि ब्राह्मण, ऋग्वेद), (ख) तैत्तिरीय (तैत्तिरीय संहिता, कृष्णयजुर्वेद), बृहदारण्यक (शतपथ ब्राह्मण, शुक्लयजुर्वेद), (ग) छान्दोग्य (छान्दोग्य ब्राह्मण, सामवेद की ताण्ड्य, शाखा), केन (तलवकार था जैमिनीय ब्राह्मण, सामवेद,) ये सभी उपनिषद् गद्य में हैं, केवल केनोपनिषद् का आधा भाग पद्यमय है और वह इस श्रेणी में सबसे परवर्ती है। ये छः उपनिषद् भारतीय दर्शन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को सूचित करते हैं और इनमें वेदान्तदर्शन अपने शुद्ध तथा मूल रूप में सुरक्षित है।

दूसरी श्रेणी के उपनिषद् सर्वांश अथवा अधिकांश में पद्यबद्ध हैं। ये कुछ बाद के हैं। ये किसी ब्राह्मण अथवा आरण्यक के विभाग के रूप में प्राप्त नहीं हुए हैं, फिर भी किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बद्ध माने जाते हैं। इनमें से कुछ वैदिक संहिताओं में ही जुड़े मिलते हैं। ये भी संख्या में छः हैं—कठोपनिषद् (काठक संहिता, कृष्ण यजु०), श्वेताश्वतर तथा महानारायण (तैत्तिरीय संहिता, कृष्ण यजु०), ईश (वाजसनेयी संहिता, शुक्ल यजु०) तथा मुण्डक और प्रश्न (अथर्ववेद)। यद्यपि ये उपनिषद् भी वेदान्त का विवेचन करते हैं पर इस वेदान्त में सांख्य तथा योग के तत्त्व मिले हुए हैं। उपर्युक्त १२ उपनिषदों में कुछ और परवर्ती, पर महत्त्वपूर्ण मैत्रायणी (कृष्ण यजु०) तथा माण्डूक्य (अथर्व०) उपनिषदों को जोड़ा जा सकता है। ये ही १४ उपनिषद् वेदान्त की आधार-शिला हैं, शंकर आदि आचार्यों ने इन्हीं पर भाष्यादि लिखे हैं और स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है।

उपनिषदों का यही साहित्य 'वेदान्त' कहा जाता है, जो कई अर्थों में उपयुक्त है—१ प्रथम तो ये सभी भाग बाद के उत्पादन हैं। वेदशब्दवाच्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में इनकी रचना सबसे बाद में हुई है। २. दूसरे इस समय तक संहिता-ब्राह्मणादि केवल मौखिक रूप में ही थे, उनका ज्ञान केवल गुरु से प्राप्त किया जा सकता था और गुरु भी वैदिक शिक्षाक्रम में इन्हें सबसे अन्त में पढ़ाते थे क्योंकि यज्ञादि के रहस्यों तथा

दार्शनिक विचारों से युक्त होने के कारण ये अधिक जटिल तथा कठिन थे। ३. वेदों के स्वाध्याय-क्रम में उपनिषद् ग्रन्थों का अन्त में पाठ करना पुण्यशाली समझा जाता था। ४. आचार्यों के अनुसार उपनिषद् ग्रन्थों में वेद (ज्ञान) अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। इनमें ज्ञान की पराकाष्ठा है।

सदानन्द और वेदान्तसार

वेदान्तसार के लेखक सदानन्द योगीन्द्र के जीवन तथा समय के विषय में बहुत कम ज्ञात है। सम्भवतः इनका समय १६वीं शती का पूर्वार्द्ध था, क्योंकि वेदान्तसार की प्रसिद्ध टीका सुबोधिनी की रचना नृसिंह योगी द्वारा शक संवत् १५१० में की गई थी। इस टीका के अन्त के श्लोक से इसकी पुष्टि होती है—

जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः,
संजाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यां तिथौ,
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकां चकारोज्ज्वलाम्॥

एक स्थान पर नरहरि (या नृसिंह) योगी ने यह भी संकेत किया कि सदानन्द उसके गुरु के गुरु थे—

'इयता प्रबन्धेन प्रतिपादितेऽस्मिन् वेदान्तसाराख्ये ग्रन्थे श्रीमत्परमगुरुपरमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दयोगीन्द्रेण महापुरुषेण……'।

जेकब ने भी परमगुरु का अर्थ 'गुरु का गुरु' लिया है।

इस प्रकार यदि सुबोधिनी का रचनाकाल १५८८ ई० माना जाय तो सदानन्द का समय उससे ५० वर्ष पूर्व मानना होगा।

वेदान्तसार पर अभी तक तीन प्राचीन टीकायें प्राप्त हैं। प्रथम का उल्लेख किया जा चुका है। दूसरी स्वामी रामतीर्थ द्वारा रचित 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' है। यह अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण है। टीकाकार ने विभिन्न ग्रन्थों से लगभग ४३० उद्धरण दिये हैं जिससे उसकी विद्वत्ता का पता चलता है। पर कहीं-कहीं यह जटिल और भ्रामक भी हो गई है। वेदान्तसार के अतिरिक्त रामतीर्थ ने उपदेश साहस्री तथा संक्षेपशारीरक आदि वेदान्तग्रन्थों पर भी टीकायें लिखी हैं। तीसरी टीका का नाम बालबोधिनी है। यह आपदेव के द्वारा लिखी गई है।

वेदान्तसार का प्रतिपाद्य

वेदान्तसार के प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ माण्डूक्योपनिषद् तथा विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी हैं। यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रस्तुत करता है। प्रारम्भ में वेदान्तविद्या के अनुबन्धचतुष्टय, मुख्यतः अधिकारी का वर्णन करते हुए ब्रह्म में किस प्रकार जगत् का आरोप हो जाता है इसका विवेचन किया गया है। माया सत् और असत् से भिन्न—अतः अनिर्वचनीय, सत्त्वरजःतमोगुणयुक्त परब्रह्म की एक विचित्र शक्ति है। इससे परिच्छिन्न होने पर ब्रह्म ईश्वर हो जाता है। यही माया जब ब्रह्म के अंशभूत आत्मा को परिच्छिन्न कर लेती है तो वह जीव हो जाता है। प्रथम में माया की समष्टि काम करती है और दूसरे में व्यष्टि। दोनों वस्तुतः एकरूप ही हैं। सम्पूर्ण जीवों की समष्टि ही ईश्वर है। दोनों का आधार वही उपाधिरहित ब्रह्म है। उसी प्रकार, जैसे घट के जल में प्रतिबिम्बित तथा समुद्र में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही होता है पर प्रथम में उसकी व्यष्टि होती है और द्वितीय में समष्टि।

माया की दो शक्तियाँ हैं; आवरण और विक्षेप। प्रथम परब्रह्म को जीव के ज्ञाननेत्रों के आगे से छिपा लेती है और द्वितीय ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति करा देती है। आवरणशक्ति में तमोगुण की मुख्यता है और विक्षेप में रजोगुण की।

इन दोनों शक्तियों से युक्त ब्रह्म जगत् का कारण है—निमित्तकारण[1] भी और उपादानकारण[2] भी। तमःप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान (माया) से आकाश उत्पन्न होता है, उससे वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी। इन्हीं पांच तत्त्वों से प्राणियों के स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीरों की समष्टि को 'सूत्रात्मा' या 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं और व्यष्टि को 'तैजस'। स्थूल शरीरों की समष्टि को 'वैश्वानर' या 'विराट्' कहते हैं और व्यष्टि को 'विश्व'।

स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) इस महावाक्य में 'सर्वम्' का वाच्य अर्थ होता है; किन्तु

१. किसी वस्तु को बनाने वाला चेतन प्राणी, जैसे घट का कुम्भकार।
२. वस्तु के निर्माण के तत्त्व या उपादान, जैसे घड़े का मिट्टी।

(जहदजहत्) लक्षणा से सर्वम् का अर्थ सम्पूर्ण प्राणियों के अन्दर विद्यमान चेतनाशक्ति लिया जाता है, जिससे इस चैतन्य मात्र का ब्रह्म से तादात्म्य बोधित होता है।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप के विषय में विभिन्न विचार हैं। कोई पुत्र को ही आत्मा मानते हैं तो कोई स्थूल शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन या बुद्धि को। किन्तु सबका खण्डन करके सदानन्द सिद्ध करते हैं कि आत्मा इन सबसे भिन्न-नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, प्रत्यक् चैतन्यरूप है।

यहां तक अध्यारोप का वर्णन है। इसके पश्चात् अपवाद का प्रारम्भ होता है। अपवाद का अर्थ है माया तथा उसके कारणभूत संसार का अपवाद या निरास करके उसमें ब्रह्म की भावना करना। अतः जगत् के सम्पूर्ण तत्त्वों का क्रमशः व्युत्क्रम से ब्रह्म में किस प्रकार विलय हो जाता है इसका विवेचन किया गया है।

अध्यारोप और अपवाद के इस सम्यक् विवेचन से अधिकारी साधक को ब्रह्म और जीव के वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। 'तत्त्वमसि' (तुम ही वह—ब्रह्म-हो) इस महावाक्य के तत् (ब्रह्म) और त्वम् पदों के अर्थ को वह पूर्णतः समझ जाता है। गुरु के द्वारा 'तत्त्वमसि' कहे जाने पर यह वाक्य भागलक्षणा (या जहदजहल्लक्षणा) के द्वारा ब्रह्म और आत्मा की समानता द्योतित करता है। 'त्वम्' का अर्थ है 'तुम' और इसमें साधक का स्थूल-सूक्ष्म शरीर-आत्मा आदि सभी कुछ आ जाते हैं। यह अपरोक्ष- (=प्रत्यक्ष) विशिष्ट चैतन्य पूर्णतः परोक्षविशिष्ट चैतन्य (ब्रह्म) नहीं हो सकता अतः इसमें लक्षणा वृत्ति की सहायता लेनी पड़ती है, जिससे परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व आदि विरुद्ध धर्मों का परित्याग हो जाता है और शुद्ध चैतन्य मात्र की एकता का बोध होता है। ठीक उसी प्रकार, जैसे—'यह वही देवदत्त है' इस वाक्य में तत्कालीन और एतत्कालीन विभिन्न उपाधियों को छोड़ कर देवदत्त मात्र की एकता का बोध होता है।

ब्रह्म से आत्मा की एकता का बोध होने पर और उसका निरन्तर चिन्तन एवं अभ्यास करने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) इस प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है जो माया को विनष्ट कर देती है। माया के नष्ट हो जाने प

उसके कार्य भी नष्ट हो जाते हैं। तब स्वयं-प्रकाशमान ब्रह्म स्वतः उद्भासित हो उठता है जिससे वह वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। 'अहं' की भावना समाप्त हो जाती है और ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रहता है।

ब्रह्म के इस साक्षात्कार में श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि आदि की भी अपेक्षा होती है अतः उनका भी संक्षेप में प्रदर्शन किया गया है। समाधि दो प्रकार की होती है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। सविकल्पक में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद की प्रतीति होती रहती है पर निर्विकल्पक में वह पूर्णतः नष्ट हो जाती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि (सविकल्पक) आदि इसके अंग हैं।

अज्ञान आदि के वाधित होने पर जो अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह संसार में रहता हुआ भी मुक्त के समान है। कर्म करने पर भी वह उनका फल नहीं भोगता और प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने पर शरीर-पात होने से ब्रह्म में लीन हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त का ग्रन्थ होने पर भी वेदान्तसार में पूर्णतः शंकराचार्य के ही सिद्धान्तों को नहीं व्यक्त किया गया। वेदान्तसार में हमें कुछ अंशों में अद्वैत वेदान्त का वहुत परवर्ती विकास ही देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ ब्रह्म और आत्मा का दो समान रूपों में विकास शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित नहीं है। समष्टि और व्यष्टि के रूप में रखकर सदानन्द ने ईश्वर-जीव, तैजस—हिरण्यगर्भ, विराट् तथा विश्व के स्वरूपों को वहुत भ्रान्त कर दिया है। 'सम्पूर्ण जीवों की समष्टि ईश्वर है' यह कथन समान्यतः बुद्धिगम्य नहीं है। स्पष्ट है कि ईश्वर की अपनी स्वतंत्र सत्ता और व्यक्तित्व नहीं है। सम्पूर्ण जीवों का यह समूह एक क्रमबद्ध कार्य करने में कैसे समर्थ हो सकता है। यही बात हिरण्यगर्भ-तैजस तथा वैश्वानर-विश्व के विषय में भी है।

आचार्य शंकर ने माया और अविद्या या अज्ञान आदि का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है—समष्टि या व्यष्टि अज्ञान में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया। विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी में—जिस पर वेदान्तसार मुख्यतः आधारित है—माया के दो स्पष्ट भेद किये गये हैं—माया और अविद्या माया ब्रह्मगत अज्ञान और भावरूप है पर अविद्या जीवगत और अभावरूप।

सदानन्द ने दोनों को एक ही माना है—पर प्रथम को समष्टि अज्ञान कहा है और दूसरे को व्यष्टि अज्ञान, ठीक उसी प्रकार, जैसे वृक्षों की समष्टि को वन कहते हैं और व्यष्टि को पलाश, खदिर आदि वृक्ष।

माया का स्वरूप

शङ्कराचार्य की प्रमुख विशेषता उपनिषदों में वर्णित विच्छिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को एक सूत्र में अनुस्यूत करके एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप देना है। उपनिषदों में एक ओर तो जगत् की ब्रह्म से 'उत्पत्ति' का वर्णन किया गया है, दूसरी ओर ब्रह्म को ही एक मात्र सत् बताया गया है। विद्या से जगत् का नानात्व दूर होकर एकत्व की प्रतीति होती है। इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए शङ्कर ने जगत् को स्वप्न, मरुमरीचिका या इन्द्रजाल की भाँति असत्य मान लिया है। यदि जगत् सत्य है तो ब्रह्मज्ञान से उसका विनाश असम्भव है और यदि ब्रह्म निर्गुण तो स्रष्टा कैसे हो सकता है? सत् ब्रह्म और असत् जगत् को मिलाने वाली एक कड़ी (माया) की उन्होंने कल्पना की है जो न सत् है और न असत्।

श्रुति-प्रमाणों की इसमें कमी नहीं। शङ्कर से पूर्व ही माया शब्द (इन्द्रजाल-भ्रम आदि के अर्थ में) प्रयुक्त हुआ था। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋग्वेद); इसकी व्याख्या शङ्कर इस प्रकार करते हैं—परमेश्वर माया शक्ति से अनेक रूपों को प्रकाशित करता है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्'॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्) और गीता में तो यह शब्द अनेकशः प्रयुक्त हुआ है—'मायामेतां तरन्ति ते' 'यन्त्रारूढानि मायया' 'योगमायां समाश्रित्य' आदि।

विद्वानों ने शङ्कर की माया की धारणा में बौद्ध दर्शन का प्रभाव माना है। शङ्कर की माया गौडपाद की 'संवृत्ति' है जिसकी कल्पना उन्होंने नागार्जुन (माध्यमिककारिका) से ली थी। माण्डूक्यकारिका-भाष्य में संवृत्ति की व्याख्या करते हुये शङ्कर ने लिखा है—

'संवृत्तिः अविद्याविषयो लौकिकव्यवहारः तथा संवृत्त्या जायते सर्वम्। परमार्थसद्भावेन तु अजं सर्वम् आत्मैव।'

इसी संवृत्ति का विकसित रूप है माया। इसीलिये भास्कराचार्य ने शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है जो लोक को अज्ञान में डालते फिरते हैं—

'विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।'

जगत् का कारण—ब्रह्म निर्विशेष और निर्गुण है। वह निर्विकारी और आप्तकाम है। उससे नाना-रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति का कारण केवल माया है। माया ब्रह्म की शक्ति है। यह संसार की कारण-शक्ति है। नाम-रूपात्मक जगत् इसी माया में सूक्ष्म रूप से स्थित रहता है। इसीलिये यह अव्यक्त कही जाती हे।

माया की उपाधि से युक्त होने पर ब्रह्म निर्गुण नहीं रह जाता, वह सगुण हो जाता है। उसकी संज्ञा ईश्वर हो जाती है। यही ईश्वर संसार का कर्त्ता है। ईश्वर स्वतः निष्क्रिय है पर माया के सम्पर्क से वह सक्रिय हो उठता है—

'परमात्मनः (ईश्वरस्य) स्वरूपाश्रयम् औदासीन्यम्। मायाव्यपाश्रयञ्च प्रवर्तकम्।' (शांकरभाष्य)

ईश्वर ही इस जगत् का अपने शुद्ध चैतन्य रूप से निमित्तकारक है पर माया की उपाधि से युक्त चैतन्य से उपादानकारण। जगत् ब्रह्म का 'विवर्त' है पर माया का 'परिणाम', जगत्रूपी सभी कार्यों की कारण शक्तियों का सामूहिक रूप माया है। इस माया का आश्रय ब्रह्म है जो माया से युक्त होने पर ईश्वर हो जाता है—

'अव्यक्तं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपं परमात्मनि ओतप्रोतभावेन समाश्रितम्।' (शा० भा०)

ईश्वर सृष्टि के लिए पूर्णतः माया पर आश्रित है और सृष्टि के ऊपर ही ईश्वर के ईश्वरत्व और सर्वज्ञत्व आदि गुण आधारित हैं, अन्यथा वह किसका शासन करेगा और किसे जानेगा! यही माया नाम-रूपों का बीज है। संसार माया का जंजाल है। एक ही ब्रह्म माया के कारण अनेक रूपों में अवभासित होता है—

'एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो नामधातुः अविद्यया मायाविवदनेकधा विभाव्यते।' (शां० भा०)

माया का स्वरूप—सदानन्द ने माया के स्वरूप के विषय में लिखा है—

'अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति 'अहमज्ञ' इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च ।'

ग्रन्थकार ने अज्ञान की चार विशेषताएँ बतलाई हैं—१. सदसद्विलक्षण और अनिर्वचनीय, २. त्रिगुणात्मक, ३. ज्ञानविरोधी, ४. भावरूपं यत्किञ्चित् ।

अनिर्वचनीय—यदि माया को सत् माना जायेगा तो प्रथम तो अद्वैतता में बाधा आयेगी क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है । इसके अतिरिक्त सत् होने के कारण वह कभी नष्ट नहीं होगी (सच्चेन्न बाधेत), अतः जीव अपने स्वरूप को ही न जान पाने के कारण कभी मुक्त न होगा । शश-विषाण आदि की भाँति वह पूर्णतः तुच्छ भी नहीं है । एक असत् पदार्थ ब्रह्म में जगत् की उद्भावना कराने में पूर्णतः असमर्थ है (असच्चेन्न प्रतीयेत), अतः वह एक विशेष ही प्रकार की है जिसे अनिर्वचनीय ही कहना उपयुक्त है ।

माया को अनंग (Partless) भी नहीं कह सकते क्योंकि फिर उसका 'परिणाम' नहीं हो सकता । उसे सांग भी नहीं कह सकते । न वह ब्रह्म से भिन्न है और न उसी के रूप की ही । ब्रह्म से वह अभिन्न नहीं हो सकती क्योंकि इसका स्वरूप अनृत, जड़ तथा दुःखमय है जो आत्मा के सत्य, ज्ञान और आनन्दमय स्वरूप से पूर्णतः भिन्न है । इसके अतिरिक्त यदि इसे ब्रह्म या आत्मा से अभिन्न मानें तो इसके विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जायगा जो अत्यधिक अनुपयुक्त है अतः माया पूर्णतः अनिर्वचनीय है—

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाऽप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
सांगाऽप्यनंगाऽप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥

भावरूप—सत् और असत् से विलक्षण होने पर भी माया अभावरूप नहीं है—यह 'अज्ञान' (माया) ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है । वह भावरूप है । अद्वैत वेदान्ती विवर्तवादी हैं जिसका मूल सतकार्यवाद[1] है ।

---

१. विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः, वेदान्तवादे परिणामवादः ।
प्रतिष्ठितेऽस्मिन् परिणामवादे, स्वयं स आभाति विवर्तवादः ॥

अतः जगद्रूपी महाप्रपञ्च को उत्पन्न करनेवाली शक्ति भावरूप ही होगी। नैयायिक अज्ञान को केवल ज्ञानाभाव मानते हैं पर वेदान्ती नहीं। 'मैं यह नहीं जानता' 'यह वस्तु यहां नहीं है' आदि अभावात्मक वाक्य अन्य ज्ञान या उस वस्तु की अन्यत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। माया की भावरूपता 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसे सामान्य अनुभव से भी सिद्ध होती है। एक प्रमाण और है—सुषुप्ति से जाग्रदवस्था में आने पर हम अनुभव करते हैं, 'मैंने कुछ नहीं जाना'। यह स्मृति है जो सदा पूर्व-अनुभव पर आधारित रहती है। यह अनुभव भावरूप ही है, अभावरूप नहीं। 'मैं नहीं जानता' इसका मानस प्रत्यक्ष अन्य सामान्य अनुभवों की भांति नहीं होता अतः इसके लिये वेदान्त को 'अनुपलब्धि' प्रमाण मानने की आवश्यकता पड़ती है।

त्रिगुणात्मक—माया से जगत् की सृष्टि होती है अतः उसका सत्त्व, रजः और तमोगुण से युक्त होना आवश्यक है। इन्हीं तीन गुणों के कारण जगत् में नाम-रूपात्मक वैभिन्न्य आता है। ये तीनों गुण माया के विशेषण होते हुये भी उसके स्वरूप ही हैं—क्योंकि इनके विना माया का कोई अस्तित्व ही नहीं। श्रुति इसमें प्रमाण है—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाम्।'

शंकराचार्य ने भी जगत् की कारणभूत माया को त्रिगुणात्मिका कहा है—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः,
अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया,
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

माया के इस त्रिगुणात्मकत्व को प्रतिपादित करने में शंकर निश्चित रूप से सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति से प्रभावित रहे हैं।

ज्ञानविरोधी—भावरूप होते हुए भी माया ब्रह्मज्ञान के अनन्तर नष्ट हो जाती है अतः तर्क से उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान के आगे तो वह टिक ही नहीं सकती। ज्ञान से माया को जानना ऐसा ही है जैसे दीपक से अन्धकार को देखना—वह ज्ञान के उदित होने पर उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार—

अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो ज्ञानेनात्यन्तमूढधीः ।
स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा ॥
सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम् ॥

अज्ञान के नष्ट होते ही नामरूपात्मक जगत् भी ज्ञानी के लिए नष्ट हो जाता है और वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

वेदान्त तीन प्रकार की सत्ताएं मानता है—(क) पारमार्थिक—एक मात्र सत् ब्रह्म, (ख) व्यावहारिक—अन्तर्जगत् तथा बहिर्जगत्, जिसका ज्ञान अन्तःकरणों तथा बाह्यकरणों से होता है तथा (ग) प्रातिभासिक—किसी वास्तविक वस्तु में होने वाली मिथ्या प्रतीति, जैसे शुक्ति में रजत का भ्रम। इनमें से माया दूसरी (व्यावहारिक) कोटि में आती है।

इस प्रकार माया की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

१—सांख्य की प्रकृति की भाँति यह भी अचेतन और जड़ है। सत् न होने के कारण यह स्वतन्त्र नहीं है अपितु अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर आधारित है।

२—यह ब्रह्म की शक्ति है—उससे अविभाज्य एवं पूर्णतः उस पर आश्रित है। माया और ब्रह्म का सम्बन्ध भी एक विशेष प्रकार का है। यह 'तादात्म्य' कहलाता है—न ब्रह्म से एकरूपता है, न भेद, न दोनों। माया एक और अद्वितीय ब्रह्म में नानारूपात्मक जगत् की उत्पत्ति करा देती है।

३—ब्रह्म की शक्ति होने के कारण यह अनादि है।

४—यह कुछ-कुछ भावरूप है—यद्यपि सत् नहीं है, इसे भावरूप केवल अभावात्मक न होने के कारण कहा जाता है। इस भावरूप के भी दो भेद हैं (क) अभावात्मक—जिससे यह आवरण करती है और (ख) भावात्मक—जिससे यह विक्षेप उत्पन्न करती है। यह अप्रतीति (non-apprehension) भी है और विपरीत प्रतीति (misapprehension) भी।

५—न यह सत् है न असत्, अतः, अनिर्वचनीय है।

६—इसकी व्यावहारिक सत्ता है।

७—यह भ्रान्ति और अध्यास की जननी है। ब्रह्म में जगत् का भ्रम कराती है।

८—यह ज्ञान से नष्ट हो जाती है (ज्ञान-निरास्य)।

९—इसका आश्रय जीव है और विषय (Object) ब्रह्म (जीवपदा ब्रह्मविषया)। यह जीवों से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को छिपा लेती है।

माया की शक्तियाँ—माया की दो शक्तियां मानी गई हैं (क) आवरण और (ख) विक्षेप। आवरण शक्ति तमोरूपा है और विक्षेप शक्ति रजोरूपा। ये दोनों शक्तियाँ हैं। विशुद्ध सत्त्व ज्ञान-शक्ति है। आवरण शक्ति ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जीव के ज्ञान-नेत्रों के आगे आकर उसी प्रकार ढक लेती है जैसे एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा द्रष्टा के नेत्रों को ढक कर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को छिपा देता है।

'आवरणशक्तिस्तावद् अल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलम् अवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथा आच्छादयतीव तथाऽज्ञानं परिच्छिन्नमपि आत्मानम् अपरिच्छिन्नम् असंसारिणम् अवलोकयितुः बुद्धिपिधायकतया आच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्।' (वेदान्तसार)

जब ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है तो विक्षेपशक्ति नानाप्रकार के जगत्-प्रपञ्च की उद्भावना करके जीव को उसमें भ्रान्त कर देती है—ठीक उसी प्रकार, जैसे रज्जु में सर्पत्व की भावना का हो जाना—

'विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति एवम् अज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्या आकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्।

'दृग्दृश्यविवेक' में बिलकुल इसी प्रकार माया की दोनों शक्तियों का वर्णन किया गया है—

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥

शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में दोनों शक्तियों का बड़ा काव्यात्मक वर्णन किया है। जैसे किसी दुर्दिन में मेघों से सूर्य के छिप जाने पर हिमवर्षा तथा ठंढी और तेज वायु प्राणियों को व्यथित कर देती है उसी प्रकार आवरण और विक्षेप शक्ति क्रमशः ब्रह्म को ढककर जगत् को भ्रान्त कर देती है—

कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै-
र्व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः॥

स्वयंप्रकाश आत्मा को तमोमयी (तमोगुणयुक्त या अन्धकारयुक्त) आवरण शक्ति ऐसे ढक लेती है जैसे देदीप्यमान सूर्य को राहु—

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या, स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम्।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा, तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम्॥

आत्मा के स्वरूप के छिप जाने पर संसारी जीव मोह में पड़कर शरीर को ही 'मैं' मानने लगता है और जगत् को सत् समझ कर उसका उपयोग करने लगता है जिससे उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि की भावना आ जाती है। तभी सांसारिक कष्टों का भी उसे अभिमान होने लगता है जिससे वह आकुल हो उठता है—

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमा-
ननात्मानं मोहादहमिति शरीरं कलयति।
ततः कामः क्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः
परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति॥

यह तो स्पष्ट ही है कि आवरण शक्ति माया का अभावात्मक रूप (Negative aspect) है और विक्षेप शक्ति भावात्मक रूप (Positive aspect)। शंकराचार्य ने विक्षेप शक्ति के भी अभावना ('ब्रह्म नहीं है' ऐसी भावना), विपरीत भावना ('मैं शरीर हूँ' 'जगत् सत् है' आदि भावनायें) तथा विप्रतिपत्ति ('ब्रह्म है या नहीं' ऐसा संशय) आदि रूप बताये हैं—

शङ्कराचार्य ने माया और अविद्या आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया था किन्तु परवर्ती वेदान्तियों ने दोनों में अन्तर स्थापित करने की

चेष्टा की। विद्यारण्य स्वामी (पञ्चदशीकार) का मत है कि माया भावरूप है। वह ब्रह्म (ईश्वर) पर आश्रित और उससे अभिन्न है। यही ब्रह्म में विविध जगत्प्रपञ्च की उद्भावना करती है। पर अविद्या पूर्णतः अभावात्मक है। यह केवल अज्ञानरूप है। ब्रह्म का न जानना ही इसका परिणाम है। माया शुद्धसत्त्वप्रधान है और अविद्या मलिनसत्त्वप्रधान। माया ईश्वर की उपाधि है अविद्या जीव की। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर है और अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥

इस प्रकार यद्यपि ज्ञान से अविद्या का नाश हो सकता है पर माया का नहीं—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विताः ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥

सदानन्द ने प्रथम (माया) को समष्टि अज्ञान और दूसरे (अविद्या) को व्यष्टि अज्ञान नाम दिया है। प्रथम ईश्वर की उपाधि होने से शुद्धसत्त्व-प्रधान (+ रजः + तमः) है तो दूसरी जीव की उपाधि होने से मलिन सत्त्वप्रधान (+ रजः + तमः)। दोनों स्वभाव में बिलकुल एक हैं। जब जीवगत विभिन्न अज्ञानों का व्यवहार करना होता है तो 'व्यष्टि' और जब सबका एकत्व में व्यवहार करना होता है तो 'समष्टि' कहा जाता है। वृक्ष और वन की भाँति दोनों अभिन्न हैं। दोनों के लिए श्रुति प्रमाण है—'अजा-मेकाम्' तथा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

इस प्रकार वेदान्त की माया ईश्वर की ऐसी सर्वाभिभाविनी शक्ति है जिसके ऊपर संसार का समस्त व्यवहार आधारित है। सम्पूर्ण जगत् मायावी ईश्वर का एक कौतुकमात्र है—जो अपनी क्रीड़ा के लिए सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है—

'मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया'

और माया वह महासुषुप्ति है जिसमें बेचारे संसारी जीव अपने स्वरूप को भूलकर सोते रहते हैं—

'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः। यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिता शेरते संसारिणो जीवाः।' (शाङ्करभाष्य)

जगत् के मिथ्यात्व और मायामयत्व की यह भावना सचमुच सांसारिक विषमताओं में लड़खड़ाते हुए व्यक्तियों का क्षीण अवलम्बन है।

ब्रह्म

ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति कुछ सन्दिग्ध है पर सामान्यतः इसे बृह् (बढ़ना—विस्तृत होना) धातु से निष्पन्न माना है। जो इतना विस्तृत हो कि सबको परिव्याप्त कर ले उसे ब्रह्म कहते हैं। पर यह महत्त्वपूर्ण है कि ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से कहीं भिन्न है। ऋग्वेद में यह शब्द स्तोत्र या मन्त्र, और इसके अतिरिक्त भी कुछ अर्थों में प्रयुक्त है—अतः ओल्डनवर्ग तथा हिलब्रैण्ट इसका मूल अर्थ कुछ जादू-टोने से सम्बन्धित मानते हुए इसकी तुलना प्राचीन आइरिश Bricht से करते हैं। जे. हर्टल जैसे विद्वानों की भी कमी नहीं जिन्होंने लैटिन भाषा के Flagro से इसकी तुलना करते हुए इसका मूल अर्थ अग्नि माना है। ऋग्वेद में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द के स्तुति या मन्त्र आदि अर्थों पर ध्यान रखते हुए कुछ विद्वानों ने इसकी तत्परक व्याख्याएँ भी की हैं—

The magical force which is derived from the orderly Co-operation of the hymns, the charts and the sacrificial gifts.

Dasgupta : History of Indian Philosophy.

The devotion which appears as the craving and fulness of the soul and strives after gods.

St. Petersburgh Dictionary.

The will of the man, striving upwards to that which is sacred and divine.

Paul Deussen : System of the Vedant.

विन्टरनिट्ज (History of Indian literature Vol. I) का कथन है कि 'ये सभी परिभाषाएं ब्रह्म की भारतीय परिभाषाओं से पूर्णतः भिन्न हैं। वेदों में ब्रह्म शब्द केवल स्तुति या सूक्त के अर्थ में आया है। उसमें कहीं भी ईश्वरभक्तिपरक अर्थ की गन्ध भी नहीं है। जब कुछ समय पश्चात् ये सूक्त या स्तोत्र संगृहीत किये गये तो इनके संग्रह को भी ब्रह्म कहा जाने लगा। वेदों के अर्थ में ब्रह्म शब्द तथा वेदों के ज्ञान के लिए 'ब्रह्मविद्या' शब्द ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में अनेकशः प्रयुक्त हुये हैं। किन्तु ब्राह्मणों तक आते-आते ही वेदों को ईश्वरीय ज्ञान का पद मिल गया और कर्मकाण्ड के प्रपञ्च के अत्यधिक विस्तार के कारण यज्ञ संसार को उत्पन्न करने वाली सर्वोच्च शक्ति मानी जाने लगी। यज्ञों का आधार वेद (ब्रह्म) था अतः ब्रह्म या वेद 'प्रथमजम्' या सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम उत्पन्न कहा जाने लगा और अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि का आधार भी बना दिया गया। इस प्रकार ब्रह्म मूलतः पौरोहित्य दर्शन का एक शब्द है और इसके अर्थ का विकास ब्राह्मण धर्म के प्रार्थना तथा यज्ञ-सम्बन्धी विचारों के विकास के साथ-साथ हुआ है।' अपने इसी लम्बे इतिहास के कारण Macdonell का कथन है कि ब्रह्म शब्द भारतीय धार्मिक विचारों के क्रमिक विकास का सुन्दर निदर्शन है[1]।

जो हो, आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है जो जगत् के अणु-अणु में व्याप्त है, जो निराकार, निर्विकार, अविनाशी, अनादि, चैतन्य तथा आनन्दमय है। ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने की आचार्य ने कोई आवश्यकता नहीं समझी है। प्रथम तो अपनी आत्मा के अस्तित्व से ही ब्रह्म की सिद्धि होती है (सर्वस्यात्मत्वात् ब्रह्मास्तित्वसिद्धिः)। द्वितीयतः उसमें श्रुति प्रमाण है। श्रुति ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों की अनुभूति की अभिव्यक्ति है अतः उसमें शंका नहीं हो सकती। ब्रह्म की सिद्धि अनुमान से कभी नहीं हो सकती, उसके लिये शब्द-प्रमाण का आश्रय लेना पड़ेगा।

---

१ Having a long Subsequent history, this word is a very epitome of the evolution of religious thoughts in India.

(History of Sanskrit literature).

ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द है। सत् का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कभी व्यभिचरित न होने वाला (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्)। सत्य का कभी बाध नहीं होता (सत्यत्वं बाधराहित्यम्)। ब्रह्म नित्य और अविकारी है। वह ज्ञान रूप एवं चैतन्य है। वह सदा प्रबुद्ध है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से रहित है। वह स्वतः प्रकाशशील है। पूर्णकाम होने के कारण वह 'आनन्दघन' कहलाता है। इसके विपरीत संसार अनृत, जड़ तथा दुःखमय है। जगत् सत् नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञान से उसका नाश हो जाता है। ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है—

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाऽप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥

वह नामरूपादि से हीन है। वह निरपेक्ष, स्वतन्त्र, शुद्ध तथा अतीन्द्रिय-सत्ता है। वह कर्ता नहीं है अतः निष्क्रिय है—

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम्।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम॥

(विवेकचूडामणि)

माया उसकी शक्ति है। पर वह माया से लिप्त नहीं होता। वह नित्य सुखस्वरूप, कला वा अंशों से रहित, नामरूपादि से हीन अव्यक्त तेज है—

निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं विभुं निष्कलमप्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति॥

(विवेकचूडामणि)

वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी से रहित, अनन्त, निर्विकल्पक केवल और अखण्ड चैतन्य मात्र है। वह 'अवाङ्मनसगोचर' है। ब्रह्म का कोई कारण नहीं है, वह कार्य-कारण की शृङ्खला से परे है। वह निर्गुण एवं निर्विशेष सत्ता है।

सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। जब सृष्टि के पहले ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं था तो अब उसके अतिरिक्त कुछ कैसे हो सकता है? जैसे मृत्तिका ही सत्य है और उससे बने भाण्ड केवल नाम मात्र के विकार हैं—उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'....'तदैक्षत एकोऽहं

बहु स्याम् प्रयायेयेति·····यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्·····

(छान्दोग्य-उपनिषद्)

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जैसे धधकती हुई आग से चारों ओर चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है—

'स यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः (ब्रह्मणः) सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ।'

वही एक ब्रह्म आत्मा के रूप में सम्पूर्ण जीवों में व्याप्त है—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।'

(श्वेताश्वतर)

जिस प्रकार पानी में घुला नमक दिखाई नहीं देता पर वह जल के अणु-अणु में व्याप्त रहता है उसी प्रकार ब्रह्म संसार के कण-कण में व्याप्त है—

'स यथा सैन्धवाखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत्, न ह अस्य उद्ग्रहणाय इव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैकं वा अरे इदं महद्भूतम् अनन्तम् अपारं विज्ञानघन एव' । (बृ. उ.)

माया के कारण ही ब्रह्म का जगत्रूप में भान होता है। ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर जगत् वाधित हो जाता है और अविद्याजनित क्लेशों की शान्ति हो जाती है।

ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है : (१) व्यावहारिक दृष्टि से—जिसके अनुसार जगत् को सत्य मानकर ब्रह्म को सृष्टिकर्ता, पालक, संहारक और सर्वशक्तिमान् कह सकते हैं; तथा (२) पारमार्थिक दृष्टि से जिसके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र निर्गुण, अविकारी और निर्लिप्त सत्ता है।

प्रथम को शंकराचार्य ने ब्रह्म का तटस्थलक्षण और दूसरे को स्वरूपलक्षण कहा है। तटस्थलक्षण कतिपय कालावस्थायी आगन्तुक गुणों का निर्देश करता है और स्वरूपलक्षण पदार्थ के तात्त्विक रूप का। जैसे एक सामान्य नट रंगमंच पर राजा की भूमिका में आकर राजोचित कार्यों को करता है—नाटक की असमाप्ति तक ही उसका राजत्व है। बाद में फिर वह सामान्य

नट हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म सृष्टिरचना के निमित्त तटस्थ लक्षण धारण करता है और निर्गुण से सगुण हो जाता है। अन्यथा वह स्वरूपतः निर्लिप्त, एवं असंग एवं निर्विकार है।

आत्मा

आत्मा शब्द का इतिहास कुछ सरल है, यद्यपि व्युत्पत्ति इसकी भी अनिश्चित ही है, Macdonell आदि कुछ विद्वान् इसे अन् (साँस लेना) धातु से निष्पन्न मानते हैं और इसका मूल अर्थ श्वास या प्राण बताते हैं। ऋग्वेद में आत्मा शब्द श्वास के अर्थ में कई स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है (जैसे वरुण की आत्मा)। Deussen ने इसे दो सार्वनामिक (pronominal) धातुओं से निष्पन्न माना है। उनके अनुसार इसका मूल अर्थ 'यह-मैं' है। आचार्य शंकर ने कठोपनिषद्-भाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हुए आत्मा के चार व्युत्पत्तिमूलक अर्थों का उल्लेख किया है—

यदाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

सामान्यतः इसकी व्युत्पत्ति 'अत्' धातु में उणादि के 'मनिन्' प्रत्यय लगने से मानी जाती है। जो हो, आत्मा केवल एक दार्शनिक शब्द ही नहीं है। निजवाचक सर्वनाम के रूप में अपने को द्योतित करने के लिए भी यह प्रयुक्त होता है अतः अपने शरीर की चेतनता का इससे द्योतन होता है। ड्यूसन (सिस्टम ऑफ वेदान्त) का कथन है कि 'यह शब्द अत्यधिक अमूर्त है अतः सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र ने अपने शाश्वत प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति के लिये यह सर्वोत्कृष्ट शब्द पाया है'[1]।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की सिद्धि के लिये कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सिद्ध है। उसके अस्तित्व को कोई अस्वीकृत नहीं

---

१. 'This is the most abstract and therefore the best name which philosophy has found for its sole and eternal theme'

कर सकता अस्वीकृत करनेवाला स्वतः आत्मा है। सभी को अपनी सत्ता का अनुभव होता है—'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई नहीं सोचता—

आत्मनः प्रत्याख्यातुम् अशक्यत्वात्। य एव निराकर्ता तस्यैव आत्मत्वात् सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति। न नाहमस्मीति। (शां. भा.)

प्रमाणों से ही आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा ही सभी प्रमाणों का आधार है। इसके विषय में कोई शंका भी नहीं की जा सकती क्योंकि यही सब संशयों का आधार है—

यतः सिद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति ?

आत्मा निर्विशेष चैतन्य है। यह सम्पूर्ण मानसिक व्यापारों को प्रकाशित करता है, अतः ज्ञानस्वरूप है। 'मैं जानता हूँ' 'मैंने जाना' 'मैं जानूँगा' 'मैं मोटा हूँ' 'मैं लँगड़ा हूँ' 'मैं सोचता हूँ' इनसे प्रकट है कि कहीं हम आत्मा को ज्ञाता समझते हैं, कहीं शरीर, कहीं इन्द्रिय और कहीं मन आदि। पर इन सब में सदा वर्त्तमान रहने वाला एक ही तत्त्व है—वह है ज्ञान। आत्मा चाहे जिस रूप में प्रकट हो चैतन्य ही उसका वास्तविक धर्म है और इस ज्ञाता को ही विषय बनाकर कैसे और किसके द्वारा देखा जा सकता है ?

विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात् ? (बृह० उप०)

इसीलिये श्रुति 'नेति नेति' कह कर चुप हो जाती है। संसार के जितने भी विषय पदार्थ हैं वे आत्मा नहीं हैं, विषयी ही आत्मा है पर इस विषयी को कैसे जाना जाये ?

आत्मा नित्य प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में तो वह बाह्य और आन्तरिक विषयों का ज्ञान रखता ही है, सुषुप्ति में भी 'मैं खूब सोया' यह स्मृति इसका स्पष्ट प्रमाण है, क्योंकि पूर्व अनुभव का मानस प्रत्यक्ष ही स्मृति है। चैतन्य होने के कारण यह सभी प्रत्ययों का साक्षी है। आत्मा को प्रकाशित करने के लिये किसी की आवश्यकता नहीं है। वह 'प्रज्ञानघन' है।

आत्मा 'सत्' है। उसकी सदा सत्ता रहती है। वह नित्य और अविकारी है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में वह कभी बाधित नहीं होता। वह न कभी

जन्म लेता है, न मरता है। वह त्रिकाल अबाधित, एक अद्वितीय निर्विकारी सत्ता है।

आत्मा का स्वरूप आनन्द है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था के क्षणिक आनन्द उस आनन्दघन के अंशमात्र हैं। सुषुप्ति में भी आत्मा का 'आनन्दत्व' उससे पृथक् नहीं होता। उस समय चैतन्य से प्रदीप्त होती हुई अज्ञान (माया) की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों से वह आनन्द का अनुभव करता है।[1] माया की उपाधियों से स्वतन्त्र होकर वह अपने अखण्ड आनन्दस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा न भोक्ता है, न कर्ता। वह धर्म और अधर्म से रहित है। वह अपने कर्मों का फल नहीं भोगता। कूटस्थ (Immutable) होने के कारण वह निष्क्रिय है। बुद्धि आदि की उपाधियों से युक्त होने पर वह अपने को भोक्ता समझने लगता है—

'न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति। बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् ॥' (शां० भा०)

आत्मा में सक्रियता अहंकार के कारण प्रतीत होती है—जो जीव की उपाधि है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व अविद्याप्रत्युपस्थापित है!

आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है। वह अतीन्द्रिय, निर्गुण, नित्यचैतन्य है। वह अविकारी, अपरिवर्तनशील, निरपेक्ष और नामरूप से हीन है। यही आत्मा ब्रह्म है, जो जगत् का आधार है। यह उसका अंश नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के खण्ड नहीं हो सकते। वह अखण्ड है। यह पूर्णतः उसी का स्वरूप ही है। ब्रह्म ही जगत् का आधार है अतः सम्पूर्ण विश्व ही आत्मा है—अन्य कुछ नहीं—

'न हि आत्मनोऽन्यत्''''तत् प्रविभक्तदेशकालं भूतं भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते।' (शां० भा०)

अतः वह अणु से भी अणीयान् है और महत् से भी महीयान्—

अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुप्रसादाद् महिमानमात्मनः॥

---

१ तदानीमेतौ ईश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिः अतिसूक्ष्माभिः अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दमनुभवतः 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिष'मिति उत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। (सदानन्दः)

छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित प्रसिद्ध 'शाण्डिल्यविद्या' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के उद्घोष से प्रारम्भ होती है और आत्मा को अपने हृदय में स्थित, अतः छोटी से छोटी, तथा सम्पूर्ण संसार की भी अभिव्यापक, अतः बड़ी से बड़ी बताती हुई ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करती हुई समाप्त होती है—

'एष म आत्मा अन्तर्हृदयेऽणीयान् यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा .... एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ..... एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्य अभिसम्भविताऽस्मि इति स्याद्द्धा न विचिकित्सास्तीति ...'

ये सम्पूर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता सभी आत्मा के स्वरूप हैं—

'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इदꣳसर्वं यदयमात्मा'

आत्मा और ब्रह्म के इस ऐक्य की अभिव्यक्ति सर्वाधिक सशक्त रूप में छान्दोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य में हुई है—'सम्पूर्ण जगत् आत्मा है—वही सत्य है—वही आत्मा हे श्वेतकेतु ! तुम हो'—

'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !'

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। इसकी स्थिति तभी तक है जब तक अज्ञान के कारण चित्त में इसकी प्रतीति होती रहती है। आत्मा प्राणिगत चैतन्य है अतः सम्पूर्ण संसार आत्मा के लिये ही प्रिय होता है। पति, पुत्र, पत्नी, धन आदि, केवल इसलिये प्रिय होते हैं कि वे आत्मा को प्रिय लगते हैं—अतः आत्मा का ही दर्शन, श्रवण और मनन करना चाहिये। बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में इस तथ्य की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' ...

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेदꣳसर्वं विदितम्'

जब आत्मा अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न हो जाता है तो उसकी संज्ञा 'जीव' हो जाती है—देश-काल की कल्पना मायाजनित है—

'मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्'।

आत्मा उससे रहित है और जीव उससे परिच्छिन्न। यह जीव अविद्या की मलिन सत्त्वयुक्त उपाधि से युक्त है। जीव ही कर्ता है। वही सक्रिय है—वही कर्म करके उत्तरदायी होता है। यदि आत्मा स्वभावतः सक्रिय होता तो वह कभी मुक्त नहीं होता—

'स्वाभाविकं कर्तृत्वम् आत्मनः संभवति अनिर्मोक्षप्रसंगात्'।

(शां० भा०)

जीव की सक्रियता बुद्धि या अहंकार की उपाधि के कारण है। सुख-दुःख धर्म-अधर्म, संस्कार आदि जीव के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

मनुष्य के शरीर के अन्दर विद्यमान आत्मा ही सम्पूर्ण जगत् का आधार है। यह वह नित्य अनुपहित चैतन्य है जो सम्पूर्ण व्यावहारिक दृष्टि का आश्रय है—

'आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धि आत्मस्वरूपं निरतिशयं भूमाख्यं ब्रह्मेति विद्धि ॥' (शां० भा०)

ईश्वर

ब्रह्म अपनी बीजशक्ति अनादि माया के द्वारा ही जगत् की उत्पत्ति के लिये तटस्थलक्षण धारण करने में समर्थ होता है। माया शक्ति से युक्त इस ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है। उपनिषदों में ही दो प्रकार के ब्रह्म का वर्णन है—पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म। प्रथम निर्गुण ब्रह्म है और दूसरा सगुण या ईश्वर। पहला निरुपाधि (Unconditional) निर्विशेष (Unspecific) और निर्गुण (Unqualified) है। दूसरा सोपाधि, सविशेष तथा सगुण। पहला जगत् से असम्बद्ध और निष्प्रपञ्च है—दूसरा सप्रपञ्च।

निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या या परिभाषा नहीं हो सकती है। वह अवाङ्मनसगोचर है। सीमित विचारों के द्वारा वह गृहीत नहीं किया जा सकता। अतः ब्रह्म के विषय में सभी बातें वस्तुतः ईश्वर के ही विषय में हैं। जिस क्षण हम

'अनुपहित' ब्रह्म की बात कहते हैं उसी क्षण वह 'उपहित' हो जाता है और ईश्वर बन जाता है।

ईश्वर ही जगत् का उपादानकारण भी है और निमित्तकारण भी। जिस प्रकार मकड़ी अपने चैतन्यांश से जाले की उत्पत्ति का निमित्तकारण है और शरीर से उपादानकारण, उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी उपाधि (माया) के प्राधान्य से जगत् का उपादानकारण है और शुद्ध चैतन्य की प्रधानता से निमित्त कारण। जगत् माया का परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त—

'शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधि-प्रधानतया उपादानं च भवति यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च भवति' (सदानन्दः)

यह ईश्वर स्थावर और जंगम समस्त प्रपञ्चों का साक्षी होने से तथा समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण 'सर्वज्ञ' है। सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण 'सर्वेश्वर' है। सभी जीवों को अपने कर्मों में प्रेरणा देने के कारण 'सर्वनियन्ता' है। प्रमाणों के द्वारा यह जाना नहीं जा सकता अतः 'अव्यक्त' है। सभी जीवों के अन्तर्हृदय में स्थित होकर उन्हें नियन्त्रित करने के कारण 'अन्तर्यामी' है तथा समस्त चराचर विश्व का विवर्तरूप में अधिष्ठान होने के कारण 'जगत् का कारण' भी है—

'एतत् (विशुद्धसत्त्वप्रधानसमष्ट्यज्ञान—) उपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते' (सदानन्दः)

ईश्वर ही जगत् का कर्ता, पालक तथा संहर्ता है। निष्क्रिय ब्रह्म भी केवल माया के कारण सक्रिय हो जाता है। ईश्वर भोक्ता नहीं है, वह केवल साक्षी है। जीवों को संस्कारानुरूप कर्मों में यही प्रेरणा देता है। ईश्वर जीव की भाँति दुःख से युक्त नहीं है क्योंकि वह अज्ञान की सत्त्वोपाधि से युक्त है उसमें अविद्या नहीं है।

ईश्वर ही उपासना का विषय है। ब्रह्म तो प्रसन्नता और क्रिया से रहित है। अतः उसकी उपासना हो ही नहीं सकती। मायायुक्त ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) की ही उपासना होती है—

'निर्गुणमपि सत् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणम् उपासनार्थमुपदिश्यते' ॥ (शां० भा०)

उपासकों की भक्ति से प्रसन्न होकर यही ईश्वर विभिन्न रूपों को धारण किया करता है—

ईश्वर असत्य नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से वही सब कुछ है—जीवों का सीधा सम्बन्ध उसी के साथ है। पर जब जीव अपने स्वरूप को समझ लेता है और उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो ईश्वर उसके लिए तुच्छ हो जाता है।

रामानुज का ब्रह्म शंकराचार्य के ईश्वर का ही विकसित रूप है।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में कुछ मतान्तर रहे हैं। कुछ के अनुसार ईश्वर ब्रह्म का माया में प्रतिविम्ब है और जीव अविद्या में कुछ अन्य माया के द्वारा उपहित या सीमित चैतन्य को ईश्वर कहते हैं और अन्तःकरण से (जो अविद्या की रचना है) सीमित चैतन्य जीव। प्रथम को 'प्रतिबिम्बवाद' तथा दूसरे को 'अवच्छेदवाद' कहते हैं। पर ब्रह्म और माया दोनों रूपादि से हीन हैं। अतः एक रूपहीन वस्तु का दूसरी आकार और रूपहीन वस्तु में कैसे प्रतिविम्ब पड़ सकता है—न ही माया शुद्ध चैतन्य को आवद्ध कर सकती है। अतः एक तीसरा मत 'आभासवाद' का है। इसके अनुसार जीव और ईश्वर ब्रह्म के अनिर्वचनीय आभास मात्र (Inexplicable appearance) हैं। वे ब्रह्म के केवल विवर्त हैं। वे माया, अविद्या या अध्यास के कारण हैं। ईश्वर केवल जीव के लिए ईश्वर है। वह अपने को ब्रह्म से पृथक् ईश्वर नहीं समझता क्योंकि माया की अभावात्मक आवरण-शक्ति उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। ईश्वर माया का स्वामी है पर जीव माया के द्वारा प्राप्त कष्टों से पीड़ित होता है।

स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः।

शंकर का यही मत है। प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद के सिद्धान्त इसी आभासवाद को समझाने के रूपकात्मक ढंग हैं। सदानन्द ने ईश्वर के स्वरूप को कुछ भ्रान्त कर दिया है—

'यथा वृक्षाणां समष्टयभिप्रायेण वनमिति एकत्वव्यपदेशः…तथा

नानात्वेन प्रमिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः···एतदुपहितं चैतन्यम्···'ईश्वर इति च व्यपदिश्यते' ।

अर्थात् सम्पूर्ण जीवगत अज्ञानों से उपहित चैतन्य ही ईश्वर है—G. A. jacob का कथन है कि ईश्वर को इस प्रकार मान लेने पर उसका व्यक्तिगत स्वरूप कुछ नहीं रह जाता—

This is a tantamount to saying that there is no personal God at all, for how can it be supposed that this aggregate of Sentiencies has, or has ever had, any power of united action.

आलोचना अनुपयुक्त नहीं है ।

जीव

आत्मा परब्रह्म, अद्वितीय, एक तथा आकाश की भाँति विभु (Omnipresent) है, वह जगत् का आधार है। इन्द्रिय, मन, अहंकार तथा शरीर की उपाधियों से घिरा हुआ और पृथक् पृथक् किया गया आत्मा ही जीव है। आत्मा एक है पर उपाधिभेद के कारण वह अनेक जीवों के रूप में प्रतीत होता है—

'पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्याद्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते ॥' (शां० भा०)

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चारों का अन्तःकरण ही जीव को पृथक् करता है। आत्मा असंसारी और अतीन्द्रिय (Transcedental) चैतन्य है, जीव व्यावहारिक चैतन्य (Empirical self)। न यह आत्मा का अंश है न उसका परिणाम। यह उसकी विभिन्न (जीव) रूप में प्रतीति मात्र है। (शरीरादि अविद्या के उत्पादन हैं, वास्तविक नहीं—जब जीवगत अविद्या नष्ट हो जाती है तो फिर वह अपने मूलरूप 'आत्मा' में आ जाता है—

'मायानिर्मितस्य जीवस्य अविद्याप्रत्युपस्थापितस्य अविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात् ।' (शां० भा०)

जीव ही प्रमाता, भोक्ता तथा कर्ता है। यह पाप-पुण्य अर्जित करता है

और उसका फल भोगता है। यही आवागमन और संसरण करता है। यही बन्ध और मोक्ष का अधिकारी है। यद्यपि चिदानन्दमय आत्मा होने के कारण यह अमर्त्य है फिर भी कामनाओं से पूर्ण कार्यों को करने से उनका फल भोगने के लिए इसका अन्य शरीर ग्रहण करना मरण समझा जाता है—

'यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव तथापि अविद्याकामकृतं तस्मिन् मर्त्यत्वम् अधिरोपितम्...' (शां० भा०)

जीव और आत्मा का अन्तर पारमार्थिक नहीं है अपितु अविद्या की उपाधियों के कारण व्यावहारिक है। आत्मा से जीव की उत्पत्ति नहीं हुई है। अन्तःकरण और शरीरादि उपाधियों का जन्म ही जीव का प्रारम्भ या उत्पत्ति समझा जाता है। इस उपाधि के नष्ट होने पर जीव शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

जीव के तीन शरीर होते हैं : स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। स्थूल शरीर पञ्चभूतों से निर्मित है। सूक्ष्म शरीर पञ्चप्राण, मन, बुद्धि तथा दश इन्द्रियों से। कारणशरीर अविद्यानिर्मित आवरण है।

जाग्रदवस्था में जीव बाह्य विषयों को इन्द्रियों से जानता है। स्वप्न में मन तथा अवचेतन सूक्ष्म वृत्तियों से। सुषुप्ति में वह अविद्या की सूक्ष्म वृत्तियों से घिरा चैतन्य और आनन्द का एकरस रूप होता है। तुरीय चैतन्य शुद्ध आत्मा है जो निरुपाधि, अद्वितीय, एकरस तथा निर्विशेष है। वह सामान्य तथा विशेष से रहित है। गुण और क्रिया से रहित है। वह अतीन्द्रिय, अविकारी और अनिर्वचनीय है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

ईश्वर और जीव

दोनों ही व्यावहारिक सत्तायें हैं। पर ईश्वर नियन्ता है और जीव शासित। ईश्वर माया के शुद्ध सत्त्व से युक्त है, जीव माया की निकृष्ट उपाधि (शरीर, मन आदि) से। अतः ईश्वर जीवों का शासक है—

'निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्च ईश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नान् जीवान् प्रशास्ति।' (शां० भा०)

दोनों में स्वामि-सेवक सम्बन्ध है। जीव ईश्वर के उपकार्य हैं और ईश्वर उपकारक। विशुद्ध चैतन्य दोनों में समान है। जैसे ताप अग्नि और स्फुलिंग दोनों में समान रहता है (चैतन्यं च अविशिष्टं जीवेश्वरयोः यथा अग्नि-विस्फुलिंगयोः औष्ण्यम्)। दोनों में ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है। जब वह विशुद्धसत्त्वप्रधान हो जाता है तो ईश्वर और जब मलिनसत्त्वप्रधान हो जाता है तो जीव हो जाता है। दोनों ब्रह्म के स्वरूप हैं। जीव भी पूर्ण ब्रह्म है—

'सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकारणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्व-माहुः' (शां० भा०)

पर ईश्वर माया के प्रभाव से भ्रान्त नहीं है। माया की अभावात्मक आवरण शक्ति उस पर प्रभाव नहीं डाल सकती। अतः वह दुःख आदि के अनुभव से रहित है। आत्मा और अनात्मा में भेद न कर सकने के कारण जीव कष्ट भोगते हैं। ईश्वर और जीव दोनों ब्रह्म के अज्ञान के विभिन्न रूपों में आभास मात्र हैं। पर ईश्वर स्वामित्व से युक्त है, वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा पूर्ण है। वह सदा प्रबुद्ध एवं मुक्त है। जीव की शक्ति एवं ज्ञान सीमित है। वह अपूर्ण है। जिन्हें ईश्वर बन्धन से मुक्त करना चाहता है उन्हें शुभ कर्मों में प्रेरित करता है। जिन्हें नहीं चाहता उन्हें नहीं। वह 'कारयिता' है। जीव सक्रिय और भोक्ता है। ईश्वर न पाप करता है न पुण्य। वह साक्षीमात्र है। मुण्डक उपनिषद् में इस तथ्य की सुन्दर रूपकात्मक अभिव्यक्ति हुई है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलः स्वाद्वत्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति'॥ (३।१।१)

आचार्य शङ्कर ने भी भाष्य में लिखा है—

'विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः, एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्म-साधनः सुखदुःखादिमांश्च एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एकस्य भोगो नेतरस्य।'

---

१ साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ट पिप्पल (=कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।

परवर्ती विद्वानों ने जीव और ईश्वर में यह सूक्ष्म भेद किया है—ईश्वर ब्रह्म का रजस्तमोऽनभिभूत सत्त्वगुणयुक्त माया में प्रतिबिम्ब है और जीव उसका रजस्तमोऽभिभूत मलिनसत्त्वयुक्त अविद्या में। माया में विक्षेप शक्ति प्रधान है जो नानारूपात्मक जगत्-प्रपञ्च की उद्भावना करती है। अविद्या में आवरण शक्ति प्रधान है। ईश्वर अज्ञान से रहित होने के कारण सर्वज्ञ है।

संक्षेपशारीरककार ने माया की दो उपाधियाँ मानी हैं—कारणोपाधि—जिससे जगत् की रचना होती है तथा कार्योपाधि—जिसमें माया के कार्य अन्तःकरण आदि आ जाते हैं। ईश्वर कारणोपाधि से युक्त है तथा जीव कार्योपाधि से—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

सदानन्द ने ब्रह्म का दो रूपों में समानान्तर विकास दिखा कर ईश्वर तथा जीव की एकता सिद्ध करने की चेष्टा की है—

ब्रह्म (समष्टि)	तुरीय चैतन्य (आत्मा) (व्यष्टि)
१ ईश्वर—माया की सत्त्वोपाधिसे युक्त। समष्टि अज्ञान का अवभासक। कारण शरीर (जगत् का कारण)-आनन्दमय कोष। सुषुप्ति अवस्था (स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च का लयस्थान)।	१ जीव (प्राज्ञ)—माया की मलिन सत्त्वोपाधि से युक्त। व्यष्टि अज्ञान का अवभासक। कारण शरीर (अहंकार आदि का कारण)—आनन्दमय कोष। सुषुप्ति अवस्था।
२ हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा)—सूक्ष्म शरीरों की समष्टि। विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय कोषों से युक्त। स्वप्नावस्था।	२ तैजस—सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि। विज्ञान, मनः, तथा प्राणमय कोषों से आच्छादित। स्वप्नावस्था का अनुभविता।
३ वैश्वानर (विराट्)—स्थूल शरीरों की समष्टि। अन्नमय कोष। जाग्रदवस्था का अधिकारी।	३ विश्व—स्थूल शरीर की व्यष्टि। अन्नमय कोष। जाग्रदवस्था।

बन्ध और मोक्ष

मोक्ष का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की सर्वप्रमुख विशेषता है। प्रत्येक दर्शन में यह किसी न किसी रूप में विद्यमान है। प्रत्येक दर्शन यह मानता है कि यह संसार कष्टों से भरा हुआ है और कुछ विशेष साधनों से मृत्यु के पश्चात् एक ऐसी स्थिति में पहुँचा जा सकता है जहाँ सांसारिक दुःखों का किञ्चिन्मात्र भी अस्तित्व न हो। निश्चित रूप से मोक्ष की इस धारणा का जन्म निराशावाद (Passimism) में है। आशावादी वेदों में इसका कहीं चिह्न भी नहीं है। उनमें नरक की भी कल्पना नहीं है। मृत्यु के पश्चात् सभी व्यक्ति यमलोक (=स्वर्ग लोक) को जाते हैं जहाँ वे अनन्तकाल तक आनन्द का उपभोग करते हैं।[1] प्राचीनतम उपनिषदों में भी मोक्ष का सिद्धान्त उस रूप में नहीं है जिस रूप में यह परवर्ती वेदान्त में विकसित हो गया। तैत्तिरीय उपनिषद् का उद्घोष है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति।'

पर वेदान्त के अनुसार जगत् असत्य, जड़ और दुःखमय है। केवल ब्रह्म ही सत्, चित् और आनन्द है। जीव और ब्रह्म एक हैं। जब तक द्वैत का भान कराने वाली अविद्या से जीव युक्त रहता है तभी तक उसकी वैयक्तिक सत्ता रहती है। अविद्या में सोता हुआ वह जब ज्ञान से जागरित होता है तो उसे पता चलता है कि वह न शरीर है, न इन्द्रिय, न मन, अपितु अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अविद्या के कारण उसमें अहं-भावना और ममता उत्पन्न होती है। शरीर आदि उपाधियों के संसर्ग से वह अपने अन्तर में स्थित चैतन्य को भूल जाता है।

---

१. देखिये ऋग्वेद १०।१४ का यमसूक्त, विशेषतः निम्न ऋचाएँ—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता, यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ७॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन इष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥ ८॥

ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पर मोक्ष या 'ब्रह्मत्व'-प्राप्ति का कथन केवल उपचार मात्र है। जैसे पास रखे हुए एक रक्त पुष्प के कारण स्फटिक लाल प्रतीत होने लगता है अथवा जैसे स्वच्छ और रङ्गहीन आकाश भी नीला दिखाई पड़ता है उसी प्रकार आत्मा को जीव समझ लिया जाता है। जैसे एक ही सूर्य विभिन्न घड़ों में रखे हुए जल में विभिन्न रूपों में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार एक ही परमात्मा विभिन्न उपाधियों के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतिभासित होता है—

'एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुः अविद्यया मायया मायाविवद् अनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति।'

माया की शक्तियाँ बड़ी प्रवल हैं। अनन्तवैभवशाली स्वतः प्रकाशमान प्रत्यक् चैतन्य अखण्ड ब्रह्म के स्वरूप को आवरण शक्ति उसी प्रकार जीव के ज्ञान नेत्रों से ढक लेती है जैसे राहु निर्मल तेजोमय सूर्य को।[1] जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। आत्मा के तिरोहित होने पर व्यक्ति अनात्म शरीर को ही मोह से 'मैं हूँ' ऐसा मानने लगता है। तव रजोगुण की विक्षेप नामवाली प्रवल शक्ति अपने काम-क्रोधादि वन्धनकारी गुणों से इसको व्यथित करने लगती है[2]।

इसी माया के द्वारा अध्यास उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण स्थावर, जङ्गम, जड़, चेतन प्रपञ्च ब्रह्म मात्र है जो एक तथा अद्वितीय है। पर माया की विक्षेपशक्ति इसमें अनेकरूपात्मक जगत् का भ्रम उत्पन्न कर देती है जिससे जीव भ्रान्त होकर संसार को सत्य समझने लगता है। इस प्रकार दोनों ओर से अज्ञान की शृंखला में जकड़ जाने से वह पूर्णतः वद्ध हो जाता है—

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा,
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा।

---

१. देखिये पीछे माया का विवेचन—
अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम्।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमोमयी राहुरिवार्कविम्बम्॥

२. तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमान् अनात्मानं मोहादहमिति शरीरं कलयति।
ततः कामक्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति॥

ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-
स्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ॥

इन्हीं दो शक्तियों से पुरुष को बन्धन की प्राप्ति हुई है—इन्हीं से मोहित होकर यह देह को आत्मा मानकर संसार-चक्र में घूमता रहता है—

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वाऽऽत्मानं भ्रमत्ययम् ॥

आचार्य शंकर ने मोक्ष को मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ माना है। जो व्यक्ति मनुष्यजन्म पाकर भी मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करता वह 'आत्महा' है—

यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ।

यह मुक्ति केवल ज्ञान से उत्पन्न हो सकती है, कर्मों से नहीं। कर्म फल को उत्पन्न करने के कारण त्याज्य हैं। 'अविद्याकामकर्म' की शंकर ने पुनः पुनः चर्चा की है। अविद्या काम (इच्छा) का कारण है। काम आसक्ति और द्वेष का। ये सब फलों को उत्पन्न करते हैं। भले ही वे शुभ फल हों या अशुभ। दोनों ही नये जन्मों के कारण हैं। जब कर्मरूपी बीजों को विद्यारूपी अग्नि से विनाश हो जाता है तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिये काम्य और निषिद्ध दोनों प्रकार के कर्मों को त्याग कर ही पुरुष वेदान्त विद्या का अधिकारी बनता है। कर्म केवल चित्तशुद्धि के लिये हैं, उनसे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती—

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥

आत्मा कर्ता नहीं है, वह निष्क्रिय है। वह कर्मों का फल भी नहीं भोगता। वह प्रसन्नता, दुःख आदि का अनुभव नहीं करता अतः जीव के किये गये कार्यों का मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं।

शंकर ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान के अतिरिक्त अन्य नैतिक गुणों पर भी बल दिया है। ब्रह्मज्ञान का अधिकारी वह है जो नित्य स्वर्गादि तथा अनित्य संसार आदि वस्तुओं से विरक्त हो। जो शम, दम, उपरति एवं

तितिक्षा से युक्त हो। जिसने सम्पूर्ण काम्य कर्मों तथा इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति छोड़ दी हो। जो श्रवण, मनन तथा गुरु के वाक्यों में श्रद्धा से युक्त हो।[1] ऐसा ही व्यक्ति उस अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है जिसको पाकर वह स्वतः ब्रह्म हो जाता है।

वेदान्त विद्या के अधिकारी को गुरु ब्रह्म के समस्त जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया समझाता है। वह माया के स्वरूप का निरूपण करता हुआ उसकी उपाधियों को समझाता है और ब्रह्म में जगत् का आरोप करता है। फिर धीरे-धीरे युक्तिबल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, तथा आनन्दमय, इन पञ्चकोशों से व्यतिरिक्त स्थूल सूक्ष्म शरीर से पृथक् उसके स्वरूप का बोध कराता है। इस प्रकार अध्यारोप अपवाद न्याय से ब्रह्म और जीव के मूलरूप का शोधन करने के उपरान्त गुरु शिष्य को 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का उपदेश देता है। यह महावाक्य जहदजहल्लक्षणा (भाग-लक्षणा) के द्वारा 'तत्' पदवाच्य अनुपहित शुद्ध चैतन्य और 'त्वं' पदवाच्य उपहित चैतन्य के विरुद्धांशों का परिहार करके चैतन्यांश में ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध करता है।

इसके पश्चात् शिष्य के निरन्तर तत्त्वाभ्यास से उसके हृदय में 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की वृत्ति (भावना) उत्पन्न होती है। यह परोक्षानुभूति-रूपी तत्त्वाभ्यास मोक्षप्राप्ति में अत्यन्त आवश्यक है। जैसे बिना औषध पिये केवल औषध शब्द के उच्चारण मात्र से कोई निरोग नहीं हो जाता उसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' केवल इतना कहने मात्र से कोई मुक्त नहीं हो सकता—

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।
विना परोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते॥

इस प्रकार के निरन्तर परोक्षानुभव से उत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' की अन्तः-करणवृत्ति हृदयस्थ अविद्या एवं उसके कार्यभूत अन्तःकरण आदि का नाश कर देती है, जिससे स्वतः प्रकाशमान ब्रह्म स्वयं प्रकाशित हो उठता

---

१. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता (सदानन्द)

है[1]। जैसे शैवाल से आवृत निर्मल जल शैवाल के हटा दिये जाने पर भासित होने लगता है उसी प्रकार पंचकोशों के नष्ट हो जाने पर नित्यानन्दैकरसस्वरूप परब्रह्म भी भासित हो जाता है—

पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयंज्योतिः॥

बृहदारण्य उपनिषद् में भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभववाक्यार्थ के परिज्ञान से आत्मत्वप्राप्ति इन शब्दों में वर्णित है—

'य इदं वेद अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। तस्य ह देवाश्चना भूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां स भवति।'

ब्रह्म के प्रकाशित होने पर यह वृत्ति उसी प्रकार स्वतः अभिभूत हो जाती है जैसे दीपक की प्रभा तेजस्वी सूर्य के सामने। उस समय प्रकाशमान चित् ब्रह्म मात्र अवशिष्ट रहता है[2]।

ब्रह्म की प्राप्ति के कुछ अवान्तर सहायक व्यापार भी बताये गये हैं—ये श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदि हैं। समाधि दो प्रकार की होती है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। इसके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि (सविकल्पक) आदि अंग हैं।

अखण्ड ब्रह्मज्ञान से अज्ञान तथा उसके कार्यों का बाध हो जाने पर जिसके समस्त सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं और जो अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार करके अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वह संसार में रहते हुये भी उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है जैसे कमलपत्र पर पड़ा हुआ जलबिन्दु। सम्पूर्ण संसार उसके लिये इन्द्रजाल के समान मिथ्या होता है। उसके संचित कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं अतः वह नये फलों को नहीं उत्पन्न कर सकते। नवीन कर्मों को करता हुआ भी वह निष्क्रिय ही रहता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मां० उप०)

१–२. देखिये वेदान्तसारः अनुभववाक्यार्थ।

आचार्य शंकर ने कहा है कि जो व्यक्ति अपनी असंग और निष्क्रिय आत्मा को मूंज से सींक के समान दृश्यवर्ग से पृथक् करके समस्त जगत् का उसी में लय करके उसी में स्थित रहता है वही जीवन्मुक्त है—

मुञ्जादिषीकादिव दृश्यवर्गात्, प्रत्यञ्चमात्मानमसंगनिष्क्रियम् ।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं, तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ॥

ज्ञानाग्नि से प्राचीन संचित कर्मों के भस्म हो जाने पर भी प्रारब्ध (जिन कर्मों का फल प्रारम्भ हो गया है) कर्मों के फल देने तक वह शरीर धारण किये रहता है। इस प्रकार का व्यक्ति अच्छे या बुरे किसी भी कर्म में अवलिप्त नहीं होता। जिस प्रकार एक होते हुए भी कभी-कभी अक्षिदोष से व्यक्ति को दो चन्द्रविम्बों की प्रतीति होती है उसी प्रकार जीवन्मुक्त को भी संसार की मिथ्या प्रतीति होती रहती है। अनुभूयमान कर्मों के क्षीण हो जाने पर उसका शरीरपात हो जाता है पर अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार किया हुआ साधक उस पर उसी प्रकार ध्यान नहीं देता जैसे गौ अपने गले में पड़ी माला के गिर जाने पर—

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं प्रयातु वा तिष्ठतु गौरिव स्रक् ।
न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्ता नन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ॥

उसके प्राण प्रत्यगानन्द परब्रह्म में लीन हो जाते हैं और वह अखिल भेदरहित निरतिशय आनन्द से पूर्ण अखण्ड ब्रह्म मात्र अवशिष्ट रहता है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'विमुक्तश्च विमुच्यते' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतियों में भी यही प्रतिपादित किया गया है।

इस प्रकार मोक्ष कोई नई प्राप्ति नहीं है अपितु यह अविद्याकृत वन्धनों का नाश है। मुक्तावस्था तो जीव का स्वभाव ही है। यह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं अपितु प्राप्त की खोज है—

फलत्वसिद्धिरपि मोक्षस्य वन्धननिवृत्तिमात्रापेक्षा न अपूर्वजननापेक्षा (शां० भा०)

सांख्य की भाँति वेदान्त का मोक्ष केवल दुःखों का अभाव मात्र नहीं वह आनन्द की भावरूप अवस्था है। उस समय कोई इच्छा नहीं होती—को

कामना नहीं रहती। क्लेश और कामना तो वैयक्तिकता में हैं। पूर्ण और अखण्ड ब्रह्म आनन्दमय है 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'—

'स्वयंज्योतिः आत्मैष परमानन्दः। स एष सुखस्य पराकाष्ठा ॥'

छान्दोग्य उपनिषद् में मोक्ष की दशा में आत्मा की ब्रह्म से समरूपता-वैयक्तिकता का नाश और आनन्द की प्राप्ति—एक सुन्दर उपमा द्वारा वर्णित है—जैसे मधुमक्खियाँ विभिन्न पुष्पों से रस लाकर मधु का निर्माण करती हैं पर मधु एकरूप होता है और उसमें कोई रस नहीं जानता कि वह किस पुष्प का रस है। सब मिल कर एक अद्वितीय मधुर तत्त्व मात्र रह जाता है उसी प्रकार मोक्ष की अवस्था में सघन आनन्द से परिप्लावित आत्मा का व्यक्तित्व परमात्मा में मिल कर एक हो जाता है—

'यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति, नानात्यानां वृक्षाणां रसान् समाहारमेकतां गमयन्ति, ये यथा न तत्र विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीति—एवमेव खलु सौम्येमाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सम्पद्यामहे इति।'

प्राचीन धार्मिक उपासना के विचारों का समन्वय करने के लिये शंकराचार्य ने दो प्रकार की मुक्तियों को स्वीकार किया है—क्रममुक्ति एवं ज्ञान-मुक्ति। जो ब्रह्म के प्रतीक 'ॐ' की उपासना करता है वह ब्रह्मलोक को जाकर धीरे-धीरे ब्रह्म का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके 'क्रममुक्ति' प्राप्त करता है। इसी प्रकार सगुण ब्रह्म की उपासना से भी पाप नष्ट होते हैं, ईशित्व प्राप्त होता है, उपास्यदेव के लोक को जाकर साधक उसका सारूप्य प्राप्त करता है और उसकी भी धीरे-धीरे क्रम-मुक्ति होती है। पर ज्ञानी पुरुष यहीं पर और तत्क्षण मुक्त हो जाता है। पहले वह जीवन्मुक्ति की दशा में रहता है और फिर शरीरक्षय के अनन्तर विदेह मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

वेदान्त के अनुसार सृष्टि की प्रक्रिया

सृष्टि की उत्पत्ति क्यों होती है यह दर्शन के सर्वाधिक जटिल प्रश्न में से एक है। आखिर इतने सारे प्राणियों के जन्म लेने का उद्देश्य क्या है? शङ्कर कहते हैं कि इसका कोई प्रयोजन नहीं, ईश्वर केवल लीला के लिये ही सृष्टि[1]

१. ब्रह्मसूत्र के 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (२।१।३३) इस सूत्र में भी यही कहा गया है।

करता है—यह उसका स्वभाव ही है। जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है—

यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। (शां० भा० २।१।३३)

श्रुति कहती है कि जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर में केश तथा नख इत्यादि उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता रहता है—

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि–
तथा ह्यक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।

तमोगुणप्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त ब्रह्म (=ईश्वर) ही सृष्टि का कारण है। उससे सर्वप्रथम सूक्ष्मतम आकाश की उत्पत्ति होती है—क्रमशः आकाश से स्थूलतर वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। सृष्टि में जड़ता का प्राधान्य है अतः उसके कारण ईश्वर को तमोगुण से युक्त विक्षेपशक्ति से उपहित माना जाता है। ये पाँचों तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और व्यक्त नहीं होते, अतः इन्हें सूक्ष्मभूत या तन्मात्रा कहा जाता है। इन तन्मात्राओं में अपने कारण (माया) से तीनों गुण आ जाते हैं।

इन तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश से पृथक्-पृथक् पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। आकाश तन्मात्रा से श्रोत्र, वायु तन्मात्रा से स्पर्श, अग्नि तन्मात्रा से चक्षु, जल तन्मात्रा से जिह्वा तथा पृथ्वी तन्मात्रा से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इन पाँचों का निवासस्थान क्रमशः कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका में है और ये क्रमशः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का अनुभव कराती हैं।

आकाशादि तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश की समष्टि से (अर्थात् पाँचों तन्मात्राओं के मिश्रण से) बुद्धि और मन नाम की दो अन्तःकरण-वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। बुद्धि निश्चयात्मिक वृत्ति है और मन संकल्प-विकल्पात्मिका। चित्त का बुद्धि में और अहंकार का मन में अन्तर्भाव है। ये सभी प्रकाश-स्वरूप हैं, अर्थात् बाह्य संसार का ज्ञान कराती हैं इसलिये इनको सत्त्वगुण से उत्पन्न माना गया है।

बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर विज्ञानमय कोश बनता है। विज्ञानमय कोश से परिच्छिन्न चैतन्य ही जीव है। यही कार्य करता है, उन्हें भोगता है, सुख-दुःख का अभिमान करता है तथा कृतकर्मों की फलप्राप्ति के लिये इहलोक तथा परलोक में संसरण करता है। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तारूप हैं।

मन और ज्ञानेन्द्रियों के सम्मिलन को मनोमय कोश कहते हैं। यह इच्छाशक्ति से युक्त होता है अतः साधनरूप है। यह आकाशादि पञ्च तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश की सृष्टि है।

आकाशादि के राजसिक अंश से कर्मेन्द्रियों और प्राणों की उत्पत्ति होती है। कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति तन्मात्राओं से पृथक्-पृथक् होती है। आकाश से वाग्, वायु से हस्त, अग्नि से पाद, जल से पायु तथा पृथ्वी से उपस्थ कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इनमें क्रिया प्रधान है अतः इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। प्राणों की उत्पत्ति पाँचों तन्मात्राओं के मिश्रण से होती है। प्राणवायु पाँच हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। प्राण नासिका के अग्रभाग में रहता है। इसकी गति ऊपर की ओर होती है। अपान पायु इत्यादि स्थानों में रहता है। इसकी गति नीचे की ओर होती है अतः यह मल-मूत्रादि को शरीर के बाहर निकालता है। व्यान समस्त शरीर में रहता है। इसकी गति चारों ओर होती है। उदान कण्ठ में रहता है। यह जीवात्मा को ऊपर ले जाता है। समान उदर में रहता है और भोजन का समुचित परिपाक एवं विभाग करता है। पंच प्राण और कर्मेन्द्रियों का यह समूह प्राणमय कोश कहलाता है। यह क्रिया शक्तिमान् होने के कारण कार्यरूप है।

दसों इन्द्रियों, पंच प्राणों तथा मन और बुद्धि, इन सत्रह अवयवों को मिलाकर मनुष्य का सूक्ष्म शरीर बनता है।

स्थूल शरीर की उत्पत्ति आकाशादि पाँच स्थूल भूतों से होती है। तन्मात्राओं से स्थूल भूतों की उत्पत्ति की प्रक्रिया को पञ्चीकरण कहते हैं। सूक्ष्मभूतों में प्रत्येक के दो भाग हो जाते हैं। एक-एक भाग वैसा ही रहता है पर दूसरे भाग के पुनः चार-चार भाग हो जाते हैं। अब उस प्रथम अर्धभाग में,

शेष चारों भूतों का एक-एक भाग मिल जाता है। उदाहरण—आकाश महाभू में आधा अंश आकाश सूक्ष्म भूत का और ⅛ अंश अन्य चार सूक्ष्म भूतों होते हैं। इस प्रकार वह पूर्ण हो जाता है। ये पाँचों स्थूल भूत अत्यन्त ज हैं अतः तमोगुण से युक्त हैं। आकाश सूक्ष्मभूत से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। अतः पृथ्वी पाँचों सूक्ष्मभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। जल में शब्द स्पर्श, रूप तथा रस हैं। अग्नि शब्द, स्पर्श तथा रूप से युक्त है। वायु शब्द तथा स्पर्श हैं और आकाश में केवल शब्द है।

इन्हीं पाँच स्थूल भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् सात ऊपर के लोकों की और तल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महात और पाताल नामक सात निम्न लोकों की तथा उनमें रहने वाले प्राणियों स्थूल शरीरों एवं उनके भोजन आदि की उत्पत्ति होती है। स्थूल शरीर प्रकार के होते हैं—जरायुज—गर्भाशय से उत्पन्न होने वाले मनुष्य-पशु आ अण्डज—अण्ड से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प, मत्स्य आदि; स्वेदज- स्वेद या ~~गर्मी से~~ उत्पन्न होने वाले जुंये, मच्छर तथा अन्य कीड़े उद्भिज—भूमि से उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि। अन्न से उत्पन्न होने वा इस स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं।

इन स्थूल-सूक्ष्म शरीरों की समष्टि एक महान् प्रपंच का निर्माण करती है- महाप्रपञ्च और उससे उपहित चैतन्य दोनों ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस महावा में 'इदं सर्वम्' के वाच्य अर्थ हैं किन्तु लक्षणा से इसमें वर्तमान शुद्ध चैतन्य का बोध होता है।

प्रलय के समय व्युत्क्रम से यह जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। चौ भुवन, स्थूल शरीर आदि मिलकर पञ्चमहाभूतों में विभक्त हो जाते हैं। पञ्च कृत महाभूत तथा सप्तदश अवयवों से युक्त सूक्ष्म शरीर अपने कारणभूत प तन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं। तन्मात्राएँ क्रमशः अपने-अपने कार लीन होती हुई अज्ञानोपहित चैतन्य में लीन हो जाती हैं। यह अज्ञानोप चैतन्य (ईश्वर) अपने आधारभूत तुरीय ब्रह्म में लीन हो जाता है और अखण्ड एक ब्रह्ममात्र अवशिष्ट बचता है।

वेदान्त के अनुसार प्रमाणों की संख्या और उनका स्वरूप

प्रमाणों की संख्या के विषय में भारतीय दर्शन में पर्याप्त मतभेद रहा है और विभिन्न दर्शनों में एक से लेकर दस तक उनकी संख्या निश्चित की गई है। चार्वाकमतानुयायी केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। जैन और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को तथा मध्वाचार्य के अनुयायी केवल प्रत्यक्ष और शब्द को स्वीकार करते हैं। सांख्य और योग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों को स्वीकार करते हैं। नैयायिक इनमें उपमान को और मिला देते हैं। प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक अर्थापत्ति को भी पाँचवां प्रमाण मानते हैं। वेदान्ती और कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक अनुपलब्धि या अभाव को भी मिलाकर छः प्रमाण मानते हैं। संभव, ऐतिह्य, चेष्टा और प्रतिभा आदि चार-पाँच प्रमाण और भी स्वीकार किये गये हैं।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—यथार्थ तथा अयथार्थ (मिथ्या)। यथार्थ ज्ञान के भी दो भेद हैं—अनुभव एवं स्मृति (संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञातविषयक ज्ञान)। इनमें से यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं। इस 'प्रमा' का जो साधन होता है उसे प्रमाण कहा जाता है। यह प्रमा अथवा यथार्थ अनुभव वेदान्त के अनुसार निम्न छः कारणों से उत्पन्न होता है—

प्रत्यक्ष—ऐसा प्रमाण जो प्रत्यक्ष प्रमा का हेतु होता है, प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। घटादि को देखने से चक्षुःसंयोग होने के अनन्तर 'यह अमुक वस्तु है' इस प्रकार का जो प्रमात्मक ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष (प्रमा) कहते हैं।

यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। 'सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम्'—जिस प्रत्यक्ष में विशेषण अथवा नाम, रूप जाति आदि का भी बोध होता है उसे सविकल्पक कहते हैं, जैसे चक्षुरिन्द्रिय से घटत्वावच्छिन्न घट का बोध होना। 'निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्'—निर्विकल्पक ज्ञान में केवल वस्तु मात्र का बोध होता है। उसके नाम जाति आदि का बोध नहीं होता। एक अबोध शिशु के लिए रेडियो का ज्ञान निर्विकल्पक है। प्रौढ़

व्यक्तियों को भी प्रथम क्षण में वस्तु का निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है, द्वितीय क्षण में वह सविकल्पक हो जाता है[1]।

न्याय में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को छः प्रकार का बताया गया है— संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण-विशेष्यभाव।[2] इनसे क्रमशः घट, तद्गत रूप, रूप की जाति (रूपत्व), शब्द, शब्दत्व तथा अभाव और समवाय सम्बन्ध का ग्रहण होता है। वेदान्त समवाय को नहीं मानता। उसके अनुसार वस्तु और तद्गत रूप बिलकुल एक हैं, उनमें तादात्म्य है। अतः उसके अनुसार सन्निकर्ष केवल पाँच हैं—संयोग, संयुक्त तादात्म्य, संयुक्ताभिन्न तादात्म्य, तादात्म्य तथा अभिन्न तादात्म्य।[3] अभाव के ग्रहण के लिए वह एक भिन्न (अनुपलब्धि नामक) प्रमाण मानता है और समवाय उसके अनुसार कोई वस्तु ही नहीं। अतः इन दोनों के ग्रहण के लिए 'विशेषण-विशेष्यभाव' सन्निकर्ष मानने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—एक इन्द्रियों से जन्य और दूसरा इन्द्रियों से अजन्य। इन्द्रियाँ केवल पाँच ही हैं। मन के इन्द्रियत्व का वेदान्तियों ने सशक्त खण्डन किया है,[4] अतः सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष 'इन्द्रियाजन्य' है। पाँचों इन्द्रियों में घ्राण, जिह्वा और त्वचा तो अपने-अपने स्थान पर रहकर ही विषय का ज्ञान कराती हैं पर कर्ण और चक्षु विषय के स्थान पर पहुँच जाती हैं और

---

१. अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम्॥
ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यथा।
बुद्धयाऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥
—वाचस्पतिमिश्र [सांख्यतत्त्वकौमुदी]

२. देखिये तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर) अथवा Primer of Indian Logic (B. L. Atreya)

३. वेदान्तपरिभाषा (चौखम्बा) पृ० ७५

४. देखिये वेदान्तपरिभाषा (चौखम्बा) पृ० १९

उससे (वस्तु या शब्द से) संयोग करके विषय का ग्रहण करवाती हैं। शब्द-ग्रहण में नैयायिकों की वीचीतरङ्गन्यायप्रक्रिया को वेदान्ती नहीं मानते।

द्रष्टा या ज्ञाता की दृष्टि से प्रत्यक्षज्ञान के दो अन्य भेद होते हैं—जीव-साक्षि (जीवगत) तथा ईश्वरसाक्षि (ईश्वरगत)। अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है (जीवो नाम अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्)। अन्तःकरण उसकी उपाधि या विशेषण है। अन्तःकरण अनेक हैं। जीव अनेक हैं। अतः जीव-साक्षि प्रत्यक्ष भी कई प्रकार का है। माया से अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है (ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्)। उसकी उपाधि माया है। वह एक है—'अजामेकाम्'। अतः ईश्वरसाक्षि प्रत्यक्ष भी एक है।

वेदान्त के अनुसार जड़ वस्तु के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार है—वस्तु के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग होने पर चित्तवृत्ति उसी वस्तु का आकार धारण कर लेती है। यह वृत्ति वस्तुगत अज्ञान को नष्ट करती है और तब अपने में प्रतिबिम्बित चैतन्य के आभास के द्वारा वस्तु को भी प्रकाशित कर देती है। ठीक उसी प्रकार, जैसे दीपक की प्रभा अन्धेरे में घटादि के रखे होने पर अन्धकार का भी विनाश करती है और घट को भी प्रकाशित करती है—

'अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति।'

(वेदान्तसार)

पञ्चदशी में भी यही बात इस कारिका में कही गई है—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदआभासेन घटः स्फुरेत्॥

ब्रह्म के प्रत्यक्ष में कुछ अन्तर है। अध्यारोपापवाद न्याय के द्वारा तत् और त्वं पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होने के अनन्तर जब गुरु साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का उपदेश देता है तो उसके निरन्तर चिन्तन से उसके हृदय में 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्यस्वभाव-आनन्दमय ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की परब्रह्म के आकार की वृत्ति उदित होती है। उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब रहता है अतः वह ब्रह्मगत अज्ञान का नाश कर देती है। अज्ञान के नाश के अनन्तर अज्ञान (माया) के कार्यभूत समस्त सञ्चित कर्मों एवम् अन्तः-

करणादि का नाश हो जाता है। पर चित्तवृत्ति भी अज्ञान का कार्य है अतः अज्ञान के नष्ट होने पर वह स्वतः नष्ट हो जाती है। अज्ञान के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर स्वयंप्रकाश ब्रह्म स्वतः प्रकाशित होने लगता है।

अनुमान

अनुमिति ज्ञान के साधन को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। यह अनुमिति व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होती है। व्याप्तिज्ञान का संस्कार ही इस ज्ञान के उद्बोध में अवान्तर व्यापार होता है। न्याय के अनुसार लिंग (धूम) के तृतीय ज्ञान को परामर्श कहते हैं। यही लिंग-परामर्श अनुमिति का कारण है। पहले व्यक्ति महानस में धूम के साथ अग्नि को देखकर व्याप्ति का निश्चय करता है, यह प्रथम ज्ञान है। पर्वत आदि में धूम देखना उसका द्वितीय ज्ञान है। व्याप्ति के पुनः स्मरण होने पर 'इस पर्वत में वह्निव्याप्य धूम है' इस प्रकार का तृतीय ज्ञान परामर्श है। यही अनुमान है। पर वेदान्त इस तृतीय ज्ञान को अनुमिति का कारण नहीं मानता। वह अनुमिति का मुख्य हेतु नहीं है और उसे मानने में गौरव है।[1]

वेदान्त के अनुसार 'यहां पर धूम है' ऐसी पक्षधर्मता के ज्ञान से 'धूम वह्निमान् होता है' ऐसे संस्कार का उद्बोध होता है, जिससे 'अतः यह भी वह्निमान् है' ऐसी अनुमिति होती है।

न्याय में अनुमान तीन प्रकार का माना गया है—अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी। पर वेदान्त इनमें से अन्वयानुमान (अन्वय-व्यतिरेकी) को ही मानता है। केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी को नहीं।

न्याय के परार्थानुमान के पांच वाक्यों के स्थान पर केवल तीन ही वाक्य वेदान्त को स्वीकार्य हैं। 'पर्वत पर वह्नि है' (प्रतिज्ञा) क्योंकि 'वहाँ धूम है' (हेतु), 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोई में

---

१ ...न तु तृतीयलिंगपरामर्शोऽनुमितौ करणम्, तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात् (वे. प. ७९)

...न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्यवह्निव्याप्यधूमवानित्यादिविशेषणविशिष्टज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम्, गौरवात् मानाभावाच्च—(वही–८१)

(उदाहरण), 'यहां पर भी वैसा ही अग्निव्याप्य धूम है' (उपनय), 'अतः यहां पर भी अग्नि है' (निगमन)। इसमें से प्रथम तीन या अन्तिम तीन से ही उसका काम चल जाता है। इस दृष्टि से पूर्णतः पाश्चात्य न्यायवाक्य के अनुरूप हैं।

वेदान्त के शेष प्रमाणों में मीमांसा आदि दर्शनों से विशेष भेद नहीं है। अतः उनका सामान्य विवेचन ही यहां पर्याप्त होगा।

उपमान—

'सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्'।

(वे० प०)

सादृश्य से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान के करण को उपमान प्रमाण कहते हैं। पहले से देखी गई किसी वस्तु के सादृश्य से किसी अन्य वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसका यथार्थ ज्ञान उपमिति है। यह सादृश्य दृष्ट वस्तु के स्मरण तथा दृश्यमान वस्तु के प्रत्यक्ष में होता है। किसी व्यक्ति ने नगर में कोई गाय देखी है और वह यह भी जानता है कि नीलगाय (गवय) गौ के सदृश होती है। कभी वन में जाने पर वहां गवय का प्रत्यक्ष होने से उसे यह प्रतीति होती है कि यह प्राणी गाय के सदृश है। तब उसे यह निश्चय होता है कि इसी प्रकार की वह गाय भी थी जो मैंने देखा था। तब अन्वय-व्यतिरेक से वह गवयनिष्ठ गोसादृश्य ज्ञान के द्वारा (करण) गोनिष्ठ गवयसादृश्य (फल) को जान जाता है और उसे पता चल जाता है कि यह गवय ही है।

यह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि उस समय गाय का प्रत्यक्ष नहीं होता और गाय तथा गवय में कोई व्याप्ति न होने से यहां पर अनुमान प्रमाण भी नहीं माना जाता।

आगम (शब्द)—

'यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्'।

(वे० प०)।

अन्य सजातीय प्रमाणों से बाधित न होते हुए तात्पर्य के विषयभूत संसर्ग को सूचित करने वाला शब्द प्रमाण है। अर्थात् ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ

(पदों का अर्थ) के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना शाब्दी प्रमा कहलाता है। वेदान्त के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति (सन्निधि) के कारण सम्पूर्ण वाक्य से एक विशेष तात्पर्य अर्थ प्रस्फुटित होता है जो पदार्थ से भिन्न होता है। तात्पर्यार्थ और पदार्थ के बोध्यबोधक भाव का ज्ञान शाब्दी प्रमा है। इसका करण इस सम्बन्ध का बोध कराने वाला वाक्यज्ञान है। इसी को शब्द या आगम प्रमाण कहते हैं।

इस प्रकार वाक्यजन्य ज्ञान के आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि[1] और तात्पर्य ज्ञान ये चार कारण हैं। पदार्थ दो प्रकार का होता है—शक्य (अभिधा से प्राप्त) तथा लक्ष्य (लक्षणा से प्राप्त)। लक्षणा के दो भेद हैं—केवललक्षणा तथा लक्षितलक्षणा।

'गंगायां घोषः' में प्रथम लक्षणा है और द्विरेफ, कुशल आदि पदों के मुख्य अर्थ 'दो रकार वाला' तथा 'कुशाएँ लाने वाला' का बाध होने पर भौंरा या चतुर अर्थ की प्रतीति लक्षणलक्षणा से होती है। एक अन्य दृष्टि से इसके जहत्, अजहत् तथा जहदजहत् आदि भी भेद किये गये हैं (देखिये, वेदान्तसार)

शब्द प्रमाण दो प्रकार का है—पौरुषेय तथा अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य प्रामाणिक तभी माना जाता है जब वह किसी आप्त पुरुष के द्वारा प्रयुक्त किया गया हो। वेदवाक्य अपौरुषेय है। वेदवाक्य भी दो प्रकार का होता है—सिद्धार्थ तथा विधायक।

जिस वाक्य से किसी विषय की सत्ता सूचित होती हो वह सिद्धार्थ और जिस वाक्य से किसी क्रिया के लिये विधि या आज्ञा सूचित की गई हो वह विधायक है। विधायक के पुनः दो भेद हैं—उपदेशक तथा अतिदेशक। 'सत्यं वद' (सत्य बोलो) आदि प्रथम प्रकार के हैं और 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' (जिसे स्वर्ग की इच्छा हो वह ज्योतिष्टोम यज्ञ करे) आदि द्वितीय प्रकार के।

अर्थापत्ति—

'उपपाद्यज्ञानेन उपपादककल्पनम् अर्थापत्तिः'

---

१. इन तीनों की विस्तृत व्याख्या के लिये देखिये तर्कभाषा (चौखम्बा प्रकाशन) में 'शब्द प्रमाण' का विवेचन।

उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक ज्ञान की कल्पना करने को अर्थापत्ति कहते हैं। उपपाद्य ज्ञान करण है और उपपादक फल। प्रथम को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं और दूसरे को अर्थापत्ति प्रमा। जिस (कारण) के विना जिस (वस्तु) के हो सकने की सम्भावना न हो वह वस्तु वहां पर उपपाद्य है और वह कारण उपपादक। जैसे रात में भोजन के विना दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त के स्थूल होने की सम्भावना नहीं हो सकती। अतः यहां स्थूलत्व उपपाद्य है और रात्रि-भोजन उप्पादक। अर्थापत्ति शब्द से प्रमा और प्रमाण दोनों का बोध होता है। प्रथम का षष्ठीतत्पुरुष से और द्वितीय का बहुव्रीहि से—

'अर्थस्य=रात्रिभोजनरूपस्य उपपादकज्ञानस्य आपत्तिः=कल्पना (रात्रिभोजनकल्पनमेव अर्थापत्तिप्रमा)' तथा 'अर्थस्य=रात्रिभोजन-रूपस्य उपपादकज्ञानस्य कल्पना यस्मात् (करणात् तदेवार्थापत्ति-प्रमाणम्)'।

इस प्रमारूप अर्थापत्ति के दो भेद हैं—दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति।

नेत्र इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये गये विषय के अनुपपन्न होने पर उपपादक विषय की कल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जैसे 'देवदत्त दिन में नहीं खाता पर मोटा है' यहां पर देवदत्त के स्थूलत्व की उपपत्ति के लिये 'रात्रि में अवश्य खाता होगा' इस अर्थ की कल्पना होती है। श्रुतार्थापत्ति वहां होती है जहां सुने जाते हुए वाक्य में स्वार्थ की अनुपपत्ति होने के कारण अर्थान्तर की कल्पना की जाय। 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' इस वाक्य को सुनने से 'अतः कहीं बाहर होगा' इस अर्थ की कल्पना होती है।

श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं—(१) अभिधानानुपपत्ति तथा (२) अभिहिता-नुपपत्ति। इनमें से जहाँ वाक्य के एकदेश के श्रवण से अन्वय की अनुपपत्ति होने पर अन्वयाभिधानोपयोगी किसी दूसरे पद की कल्पना की जाय वहां अभिधानानुपपत्ति होती है, जैसे 'द्वारम्' केवल इस शब्द के सुनने से 'पिधेहि' पद का अध्याहार करना। अभिहितानुपपत्ति वहां होती है जहां वाक्य से अवगत हुआ अर्थ स्वयं अनुपपन्न रूप से ज्ञात होकर दूसरे अर्थ की कल्पना करवाता है, जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्य में ज्योतिष्टोम को स्वर्ग का साधन बताया गया है। पर अल्पकालिक यज्ञ साक्षात् रूप से स्वर्ग का साधन

नहीं है अतः मध्यवर्ती 'पुण्य' का अध्याहार होता है। (अर्थात् ज्योतिष्टोम से पुण्य होता है जिससे स्वर्ग मिलता है)।

अनुपलब्धि—

'ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्'

व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, तात्पर्ययुक्त शब्दज्ञान, तथा उपपाद्यज्ञान इन ज्ञानरूप करणों से न उत्पन्न होने वाला जो अभावविषयक अनुभव है उसके असाधारण करण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। इस परिभाषा में 'ज्ञानरूप करणों से उत्पन्न न हो' इसलिये कहा है कि आत्मा में धर्माधर्म आदि जिन अतीन्द्रिय पदार्थों के अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति न हो। अभाव के ग्रहण में अदृष्ट आदि साधारण कारण हैं अतः 'असाधारण' शब्द का प्रयोग है और 'अनुभव' पद का सन्निवेश इसलिये है कि अभावविषयक स्मरण के असाधारण कारण 'संस्कार' में अतिव्याप्ति न हो।

इस प्रकार वेदान्त के अनुसार किसी विषय के अभाव का जो साक्षात् ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा होता है। उपर्युक्त पाँचों प्रमाण भाव पदार्थों की उपलब्धि के साधक हैं पर अभाव की उपलब्धि इनसे नहीं होती। 'मेज पर पुस्तक नहीं है, यहाँ पुस्तक का अभाव किस प्रकार विदित होगा? प्रत्यक्ष हो नहीं सकता क्योंकि अभाव कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका इन्द्रिय से सम्पर्क हो सके। व्याप्ति के न होने से अनुमान भी नहीं है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के लिये भी कहा जा सकता है।

यह अभाव चार प्रकार का होता है—१. प्रागभाव २. प्रध्वंसाभाव ३. अत्यन्ताभाव तथा ४. अन्योऽन्याभाव। घटादि के कारणभूत मृत्पिण्डादि में उत्पत्ति से पूर्व घटादि कार्य का जो अभाव रहता है वह प्रागभाव है।

यह प्रागभाव 'इह मृत्पिण्डे घटो भविष्यति' इस प्रकार की प्रतीति का विषय है। घट के बन जाने पर मुद्गर आदि लग जाने पर घड़े के फूट जाने से उस मृत्पिण्ड में प्रतीत होने वाला जो घटाभाव है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है।

जिस अधिकरण में किसी वस्तु का भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में अभाव प्रतीत हो उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं, जैसे वायु में रूप का अत्यन्ताभाव ।

एक वस्तु में उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु का अभाव अन्योऽन्याभाव है, जैसे घट में पट के अभाव की प्रतीति होना। इसी को विभागभेद तथा पृथक्त्व भी कहते हैं।

इसके पुनः दो भेद किये गए हैं—सोपाधिक तथा निरुपाधिक। प्रथम प्रकार का भेद किसी उपाधि के कारण प्रतीत होता है, जैसे माया की उपाधि के कारण चैतन्य का विभिन्न प्राणियों में विभिन्न प्रतीत होना, या जैसे घट, तडाग, नदी, समुद्र आदि के जल में प्रतिविम्बित सूर्य के प्रतिबिम्ब का परस्पर भेद। दूसरे प्रकार के भेद में कोई उपाधि नहीं होती जैसे घट में पट का अभाव ।



विषय सूची



॥ श्रीः ॥

वेदान्तसारः

'भावबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतः



अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥
माधवोमाधवौ नत्वा काशीकल्पोकनीगुरून् ।
टीका वेदान्तसारस्य रच्यते भावबोधिनी ॥

अखण्डमिति—अहम् (सदानन्दः), अभीष्टसिद्धये = ग्रन्थनिर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थम्, आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपनिःश्रेयसावाप्तये वा। अखिलाधारम् = आकाशादिसकलस्थावरजङ्गमरूपप्रपञ्चाधारभूतम्, सृष्टिस्थितिलयकारणमित्यर्थः। अवाङ्मनसगोचरम् = इन्द्रियातीतम्। अखण्डम् = अनन्तम्। सच्चिदानन्दम् = सर्वदा वर्तमानं स्वप्रकाशचैतन्यानन्दस्वरूपञ्च। आत्मानम् = ब्रह्म। आश्रये = एकत्वेन प्रतिपद्ये ॥ १ ॥

मैं (सदानन्द) ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति होने के लिये अथवा आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिरूप निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये उस अखण्ड परमात्मा का ध्यान करता हूँ जो सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमरूप प्रपञ्च का आधार है। वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती। मन जिसके विषय में कुछ सोच नहीं सकता। जो इन्द्रियों के द्वारा किसी प्रकार जाना नहीं जा सकता तथा जिसका कभी नाश नहीं होता और जो स्वयंप्रकाश चेतन एवं आनन्दस्वरूप है ॥ १ ॥

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः ।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति ॥ २ ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं विधायेदानीम्—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'

इत्युक्त्या देवताभक्तिवद् गुरुभक्तेरपि विद्याङ्गत्वात्, 'देवमिवाचार्यमुपासीत' इत्यापस्तम्बोक्त्या गुर्वाराधनस्याप्यत्यन्तावश्यकत्वेन तदपि प्रदर्शयति—अर्थतोऽपीत्यादिना। अर्थात्—डित्थडवित्थादिवत्केवलसंज्ञामात्रं न व्यवस्थितमपि तु अतीतद्वैतभानतः=अतीतं द्वैतं यस्मात् तदतीतद्वैतम् प्रत्यगात्मतत्त्वम्, तस्य भानतः, साक्षात्कारात् (निरस्तसमस्तभेदभावत्वात्), अर्थतोऽपि अद्वयानन्दान् (अद्वयानन्दनामकान्) गुरून्, आराध्य=भक्तिश्रद्धातिशयपूर्वकं नमस्कृत्य। यथामति=स्वबुद्ध्यनुसारम्, वेदान्तसारम्, वक्ष्ये ॥ २ ॥

समस्त भेद-भाव से शून्य होने के कारण अखण्ड आनन्दस्वरूप (अद्वयानन्दनामक) गुरु जी को नमस्कार करके मैं (सदानन्द) अपनी बुद्धि के अनुसार वेदान्तसार को कहूँगा ॥ २ ॥

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि[1]शारीरकसूत्रादीनि च। अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः। तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञातवेदान्तमिदानीं नामतो निर्दिशति—वेदान्तो नामेति। उपनिषदो यत्र प्रमाणं जीवस्य यत्र वास्तविकसूक्ष्मविवेचनं वा स वेदान्तो नामेति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि शारीरकसूत्राणि श्रीमद्भगवद्गीताद्याध्यात्मिकशास्त्राणि च वेदान्तपदबोध्यानि। इदं हि वेदान्तसारपुस्तकं वेदान्तशास्त्रसम्बद्धमिति वेदान्तानुबन्धानामेवास्याप्यनुबन्धत्वान्न ते पृथगालोच्यन्ते ॥ ३ ॥

वेदान्त उसे कहते हैं जिसमें उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूप से दिये गये हों या जिसमें जीव का ठीक-ठीक सूक्ष्म विवेचन किया गया हो। इस कारण 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि शारीरक सूत्रों तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' इत्यादि आध्यात्मिक शास्त्रों को वेदान्त कहते हैं। यह 'वेदान्तसार' वेदान्त की

१. शरीरमेव शरीरकम् तत्र भवः शारीरको जीवः स सूच्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादीनि।

पुस्तक है अतः वेदान्त के जो अनुबन्ध हैं वे ही अनुबन्धन इसके भी हैं। इसलिये उनका अलग निर्देश करना आवश्यक नहीं। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन ये अनुबन्ध कहलाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषः—अनुबन्ध—किसी ग्रन्थ का आरम्भ करते समय स्वभावतः चार प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(१) इसको कौन पढ़ सकता है अर्थात् इसके पढ़ने का कौन अधिकारी हो सकता है (२) इसमें कौन सा विषय लिखा है (३) इसमें लिखे हुए विषय तथा पुस्तक का क्या सम्बन्ध है (४) इस पुस्तक के पढ़ने का क्या प्रयोजन है। इन चारों प्रश्नों के प्रत्येक उत्तर को अनुबन्ध कहते हैं और चारों को मिला कर अनुबन्ध-चतुष्टय कहते है।

जब तक किसी को यह ज्ञान न होगा कि यह पुस्तक किस विषय की है; मैं इसको समझ सकता हूँ या नहीं, इसके पढ़ने से मुझे क्या लाभ होगा तब तक वह उसके पढ़ने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसीलिए कहा गया है—

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता। काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि—नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि—पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानि—पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि—सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि। एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परमम्प्रयोजनम्। उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः, 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादिस्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक' इत्यादिश्रुतेः।

साधनानि-नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्। ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः। शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। तितिक्षा—शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवंभूतः प्रमाता अधिकारी 'शान्तो दान्तः' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षव' इति ॥

विषयो-जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्। सम्बन्धस्तु-तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः। प्रयोजनं तु-तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च 'तरति शोकमात्मविद्' इत्यादिश्रुतेः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च ॥ ४ ॥

अधिकारी—स एवास्या वेदान्तविद्याया अधिकारी यः —

(क) इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सविध्यधीताखिलवेदवेदाङ्गाधिगतसकलतत्त्व,

(ख) काम्यनिषिद्धकर्मपरित्यागपूर्वकं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन विधूतसकलकल्मषस्वान्तः,

(ग) नित्यानित्यवस्तुविवेकादिवक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयसम्पन्नश्च स्यात्।

(घ) काम्यानि—यत्किञ्चित्फलकाङ्क्षया क्रियमाणानि कर्माणि काम्यानि यथा—स्वर्गप्राप्तीच्छया क्रियमाणानि ज्योतिष्टोमयज्ञादीनि।

[ननु ज्योतिष्टोमादीनां धर्मसाधनत्वेन पुण्यप्रदायकत्वेन शुभकर्मतया च कथं तेषां वेदान्तविद्याधिकारित्वे प्रतिबन्धकत्वमिति चेच्छृणु; ज्योतिष्टोमादीनां शुभकर्मत्वेऽपि तत्फलभोगार्थं जन्ममरणहेतुतया मोक्षावरोधकत्वेन निषिद्धकर्मवत्तेषामपि वेदान्तविद्याधिकारित्वे प्रतिबन्धकत्वम्]

(ख) निषिद्धानि—निरयप्रापकत्वेन ब्रह्महत्या–गोहत्यादीनि निषिद्धकर्माणि। इत्थं परित्यक्तकाम्यनिषिद्धकर्मा पुण्यपापराहित्येन चावधूतसकलकल्मषस्वान्त एव मनुष्यो वेदान्तविद्याधिकारी नान्यः।

(ख) नित्यानि—येषां करणे विशेषपुण्याभावेऽप्यकरणे प्रत्यवायः–तानि नित्यानि; यथा सन्ध्यावन्दन–पञ्चमहायज्ञादीनि।

[दैनिकगृहमार्जनस्नानदन्तधावनादिकरणेन विशेषपुण्याभावेऽप्यकरणे मालिन्यजन्यकीटाणुनिमित्तकामयोत्पत्तिसम्भावनेति तानि नित्यं निष्पाद्यन्ते। एवमेव प्रतिदिनकृतज्ञाताज्ञातपापापनोदार्थं प्रतिदिनं क्रियमाणानि यानि सन्ध्यावन्दनादीनि तानि नित्यकर्माण्युच्यन्ते]

(ख) नैमित्तिकानि—पुत्रे जाते 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्यादि स्थलेषु विहितानि जातेष्ट्यादीनि ग्रहणस्नानादीनि च नैमित्तिककर्माण्युच्यन्ते।

(ख) प्रायश्चित्तानि—'प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्यैव शोधनम्' इत्युभियुक्तोक्त्या पापक्षालनार्थं क्रियमाणानि चान्द्रायणादीनि प्रायश्चित्तकर्माणि कथ्यन्ते।

(ख) उपासनानि—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिशास्त्रीयप्रमाणैः सकलचराचरप्रपञ्चस्य ब्रह्मणो रूपत्वे निश्चिते सगुणे ब्रह्मणि चिरकालपर्यन्तमात्मनो मनोवृत्तिं स्थिरीकर्तुं क्रियमाणानि कर्माणि उपासनानि; यथा–शाण्डिल्यविद्यादीनि।

[छान्दोग्योपनिषदि-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एतदारभ्य अग्रे 'न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः' (३। १४।१, २) एतत्पर्यन्तं शाण्डिल्यर्षिणा ब्रह्मोपासनोक्तेति सा शाण्डिल्यविद्योच्यते, आदिना शतपथब्राह्मणोक्ताः 'स आत्मानमुपासीत, मनोमयम्', तथा बृहदारण्यके—'मनोमयोऽयं पुरुषो भारूपः' इत्यादयो ग्राह्याः। बुद्धिशुद्ध्यर्थं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तकर्माणि तथा चित्तैकाग्रतार्थमुपासनादिकर्माणि क्रियन्ते, 'तमेतमात्मानम्'-इत्यादिश्रुतिः 'तपसा कल्मषं हन्ति'–इत्यादिस्मृतिश्चात्र प्रमाणम्। पितृलोकसत्यलोकावाप्तिश्चैतेषां नित्यनैमित्तिकोपासनकर्मणा-

मवान्तरफलम् । प्रधानफलं त्वेतेषां बुद्धिशुद्धिश्चित्तैकाग्रतैवेति गौणरूपेणानयोर्मोक्षसाधनत्वम् ।]

(ग) साधनचतुष्टयम्—(१) नित्यानित्यवस्तुविवेकः (२) ऐहलौकिकपारलौकिकफलभोगविरागः (३) शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाः (३) मुमुक्षुत्वञ्चैतत्साधनचतुष्टयमुच्यते ।

[यावन्नित्यानित्यवस्तुविवेको न स्यान्न तावद्वैराग्यम् । वैराग्यमन्तरेण न शमादीनां सम्भवः । तदसम्भवे च न मोक्षविषयिणीच्छा । तां विना न ब्रह्मजिज्ञासेति क्रमशस्तदुल्लेखः । विवेकविरागशमादिसाधनत्रययुक्तस्य हृदये मोक्षेच्छोत्पत्तिरवश्यंभाविनी । तदुत्पत्तौ च ब्रह्मजिज्ञासाऽनिवार्येति पूर्वोक्तसाधनचतुष्टयसम्पन्न एव जीवात्मा वास्तविकब्रह्मजिज्ञासुर्वेदान्तविद्याधिकारी ।]

नित्यानित्यवस्तुविवेकः—ब्रह्मैवैकं वस्तु नित्यम् , तदितरच्चाखिलमनित्यमिति विवेचनं नित्यानित्यविवेकः । ब्रह्मनित्यत्वैकत्वप्रतिपादककतिपयश्रुतयोऽत्र उद्ध्रियन्ते :—

ब्रह्मणो नित्यत्वैकत्वे—

(१) नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् ।

(२) अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः ।

(३) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।

तदितरानित्यत्वे च—

(१) यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

(२) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चन मिषत् ।

(३) नेह नानास्ति किञ्चन—इत्यादिश्रुतयः प्रमाणम् ।

(ग) विरागः—ऐहिकभोग्यवस्तुजातमखिलं कर्मजन्यमनित्यञ्च । यद्यावलोक्यते श्वस्तस्य विनाशसम्भवः । एवमेव यज्ञादिभिरुपलब्धं स्वर्गादि, तत्रत्यमखिलं वस्तु चाप्यनित्यमिति निश्चित्यैहिकामुष्मिकोभयवस्तुविरतिर्विरागः ।

(ग) शमादिषट्कम् :—१—शमः—अशनायोदन्याशान्तिसाधने अन्नपानीये । अतो यथा तीव्राशनायस्य प्रबलोदन्यस्य च जनस्य मनसे नान्यः कोऽपि व्यापारो रोचते, मुहुर्मुहुश्च तत्तदभिमुखमेवाभ्युपैति तथैव श्रवणमननेत्या

दीनि तत्त्वज्ञानसाधनानि । तानि च विहायान्यसांसारिकविषयेषु स्रक्चन्दनवनितादिष्वभिमुखं मनो येनान्तःकरणवृत्तिविशेषेण निगृह्यते स वृत्तिविशेषः शमः ।

२—दमः—ब्रह्मसाक्षात्कृतिसाधनभूतश्रवणमननाद्यतिरिक्तबाह्यशब्दादिविषयेभ्यश्चक्षुःश्रोत्रादीन्द्रियाणां निग्रहो दमः ।

३—उपरतिः—श्रवणमननाद्यतिरिक्तविषयेभ्यो निगृहीतानामिन्द्रियाणां ज्ञातसाधनभूतश्रवणमननाद्यतिरिक्तशब्दादिषु प्रवृत्तिर्यथाऽन्तःकरणवृत्त्याऽवरुध्यते सावरोधिका वृत्तिरुपरतिः ।

मनोरूपान्तरिन्द्रियनिरोधः शमः, बाह्येन्द्रियनिरोधो दमः । उपरतिरपि निरोधाविशेष एवेत्येतेषु पारस्परिकसाम्यभ्रान्तिनिराकरणायोपरतेर्लक्षणान्तरमाह—अथवेति ।

गृहस्थादिभ्यो विहितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिककर्मणां संन्यासाश्रमस्वीकारेण शास्त्रोक्तविधिना परित्याग उपरतिरिति भावः ।

४—तितिक्षा—शीतोष्णमानापमानादीनां तदुत्पन्नसुखदुःखादीनाञ्चानुभवः सर्वैः क्रियते किन्तु शरीरधर्माणामेतेषां स्वप्रकाशचिद्रूपे आत्मन्यत्यन्ताभाव इति बुद्धया येषां सहनं तितिक्षा ।

५—समाधानम्—शब्दादिबाह्यविषयेषु वशीकृतस्य मनसः श्रवणमननादौ तदुपकारकनिरभिमानित्वादिविषयेषु च योजनं समाधिः ।

६-श्रद्धा—गुरूक्तवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा ।

१—मुमुक्षुत्वम्—अज्ञानं तज्जन्यसांसारिकभानञ्च ज्ञानेनापसार्य ब्रह्मरूपेऽवस्थितिः मोक्षः, तदिच्छा मोक्षेच्छा; तद्वत्त्वञ्च मुमुक्षुत्वम् ।

एवं पूर्वोक्तसाधनोपलब्धनितान्तस्वान्तशान्तिर्लौकिकवैदिकाखिलव्यवहारनिरस्तसमस्तभ्रान्तिरात्मज्ञानाधिकारी ।

यथा चोक्तमुपदेशसाहस्र्याम्—प्रशान्तचित्तायेति । स्पष्टोऽर्थः ।

[एतावत्पर्यन्तमधिकारिरूपाद्यनुबन्धं निरूप्यावशिष्टानुबन्धत्रयीदानीं निरूप्यते]

(२)-विषयः—अज्ञाननिमित्तकजीवब्रह्माध्यारोपितकिंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविरुद्धधर्मपरित्यागानन्तरमवशिष्टं यज्जीवब्रह्मैक्यरूपं शुद्धचैतन्यं तदेवाखिलवेदान्तवाक्यप्रतिपाद्यविषयः । अत्र जीवब्रह्मैक्यानन्तरं शुद्धचैतन्योक्तिर्वेदान्तप्रतिपाद्य-

विषयः शुद्धचैतन्यमेवेत्यर्थे वर्तते, न पुनः पयःपानीययोः पारस्परिकपार्थक्येऽपि मिश्रीभावेन तदैक्यमिव जीवब्रह्मणोः पार्थक्येऽप्येकत्वमित्यर्थे; इत्यवधेयम्। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादिवेदान्तवाक्येषु अस्यैव चैतन्यस्य प्रतिपादनात्।

(३) सम्बन्धः—जीवब्रह्मैक्यरूपप्रतिपाद्यविषयस्य (प्रमेयस्य) तत्प्रतिपाद्योपनिषद्वाक्यजातस्य (प्रमाणस्य) च बोध्य-बोधकभावसम्बन्धः, तत्र च जीवब्रह्मैक्यं बोध्यम्, तत्प्रतिपादकञ्च तत्त्वमसीत्यादि वाक्यम् बोधकम्।

(४) प्रयोजनम्—आत्मगताज्ञानतज्जन्यसकलप्रपञ्चनिवृत्तिपूर्वकस्वरूपपरिचयाखण्डानन्दावाप्तिरेव वेदान्तशास्त्रप्रयोजनम् 'तरति शोकमात्मवित्,' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति,' इत्यादिश्रुतेः ॥ ३ ॥

31/5/60

(१) अधिकारी—इस वेदान्त विद्या के पढ़ने का अधिकारी वही हो सकता है जिसने (क) इस जन्म में या पूर्व जन्म में सभी वेद-वेदाङ्गों का भलीभाँति अध्ययन किया हो क्योंकि ऐसा करने से अपने आप उसे सम्पूर्ण वेदों का अर्थज्ञान हो जायगा। (ख) जिसका अन्तःकरण काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासना कर्मों के करने से बिल्कुल निष्पाप एवं शुद्ध हो गया हो। (ग) जो नित्यानित्य-वस्तुविवेक इत्यादि (आगे बतलाये जाने वाले) साधन—चतुष्टय (चार साधना) से सम्पन्न हो।

(घ) काम्य—जो कर्म किसी फल की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं उनको काम्य कर्म कहते हैं; जैसे—स्वर्गप्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ किया जाता है अतः यह काम्य कर्म है।

[यद्यपि ज्योतिष्टोमादि धर्म के साधन एवं पुण्य को देने वाले अच्छे कर्म हैं फिर भी जन्म-मरण के हेतु हैं, क्योंकि अच्छे कर्म करने से भी उनका फल भोगने के लिये जन्म लेना ही पड़ेगा—भले ही वह किसी धनी या विद्वान के घर में हो। इस प्रकार अच्छे कर्म भी जन्ममरण के हेतु होने के कारण मोक्ष नहीं दे सकते; अतः निषिद्ध कर्मों की तरह उनका करना भी बन्धन होने के कारण वेदान्त विद्या के अधिकारी होने में वर्ज्य है !

(ख) निषिद्ध—ब्रह्महत्या, गोहत्या इत्यादि निषिद्ध कर्म हैं क्योंकि इनके करने से नरक मिलता है।

इस प्रकार मनुष्य जब काम्य और निषिद्ध दोनों प्रकार के कर्मों का परित्याग कर देता है तो पुण्य या पाप कुछ भी न होने के कारण उसका अन्तःकरण नितान्त निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार के विशुद्ध अन्तःकरण वाला मनुष्य ही वेदान्त विद्या के ज्ञान का अधिकारी है।

(ख) नित्य—ऐसे कर्म जिनके करने से तो विशेष पुण्य न हो किन्तु न करने से हानि हो, नित्य कर्म कहलाते हैं। जैसे-सन्ध्यावन्दन, पंचमहायज्ञ इत्यादि।

[जिस प्रकार घर में झाड़ू लगाने से या प्रतिदिन स्नान एवं दन्तधावन करने से कोई पुण्य नहीं होता किन्तु यदि ये न किये जायँ तो घर में कूड़ा एवं शरीर में मैल एकत्रित हो जाने के कारण स्वास्थ्य बिगड़ जायगा। इसी प्रकार ज्ञाताज्ञात छोटे-मोटे जो पाप प्रतिदिन हो जाते हैं वे एकत्रित न होने पावें इस हेतु जो सन्ध्या-वन्दनादि कर्म किये जाते हैं वे नित्य कर्म कहलाते हैं।

(ख) नैमित्तिक—पुत्रादि के होने पर 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्यादि स्थलों में विहित जो जातेष्टि इत्यादि यज्ञ किये जाते हैं वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं। ग्रहण-स्नान इत्यादि भी नैमित्तिक कर्म हैं।]

(ख) प्रायश्चित्त—'प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्यैव शोधनम्' अर्थात् पापों के क्षालन करने के लिये जो चान्द्रायण आदि व्रत किये जाते हैं वे प्रायश्चित्त कर्म कहलाते हैं।

(ख) उपासना—जब जिज्ञासु को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्रीय प्रकरणों से यह निश्चित हो जाता है कि यह चराचर जगत् उसी ब्रह्म का रूप है तब उसमें आदरपूर्वक चिरकाल पर्यन्त अपनी मनोवृत्ति को स्थिर रखने के लिये जो कर्म किये जाते हैं उन्हें उपासना कहते हैं, जैसे—शाण्डिल्यविद्या इत्यादि।

[छान्दोग्य उपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यहाँ से लेकर आगे 'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूपः' (३।१४।१, २) यहाँ तक शाण्डिल्य ऋषि ने यह कहा है कि जगत् और आत्मा की ब्रह्मरूप में उपासना करनी चाहिये। इसीलिये इसे शाण्डिल्य-विद्या कहते हैं; आदि शब्द से शतपथ-ब्राह्मण में कही

हुई 'स आत्मानमुपासीत, मनोमयम्', तथा बृहदारण्यक में 'मनोमयोऽयं पुरुषो भारूपः' (५।६।१) इस प्रकार कही हुई विद्याओं को समझना चाहिये]

बुद्धि की शुद्धि के लिए नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त कर्म एवं चित्त की एकाग्रता के लिए उपासन कर्म किये जाते हैं। 'तमेतमात्मानम्'—इत्यादि श्रुति तथा 'तपसा कल्मषं हन्ति'—इत्यादि स्मृति-वचन इसमें प्रमाण हैं।

नित्य-नैमित्तिक तथा उपासन कर्मों का दूसरा फल यह भी है कि उनसे पितृलोक तथा सत्यलोक की प्राप्ति होती है किन्तु उनका मुख्य फल बुद्धि की शुद्धि एवं चित्त की एकाग्रता ही है जो कि गौणरूप से मोक्ष के साधन हैं।

(ग) साधनचतुष्टय—(१) नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक,

(२) ऐहलौकिक या पारलौकिक फल के भोगने से विराग,

(३) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा, तथा

(४) मोक्ष की इच्छा, इन चारों को 'साधनचतुष्टय' कहते हैं।

[जब तक नित्यानित्य (सत् और असत्) विवेक न होगा तब तक वैराग्य नहीं हो सकता; वैराग्य के बिना मोक्ष की इच्छा नहीं हो सकती और इसके बिना ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्मज्ञान की इच्छा) नहीं हो सकती। अतः इनका क्रमशः उल्लेख किया गया है। विवेक, विराग तथा शमादि इन तीन साधनों से युक्त व्यक्ति के हृदय में मोक्ष की इच्छा अवश्य उत्पन्न होगी और उसके उत्पन्न होने पर ब्रह्म-जिज्ञासा का होना अनिवार्य है। इसीलिए पूर्वोक्त साधनचतुष्टय-सम्पन्न ही जीवात्मा, सच्चा ब्रह्मजिज्ञासु वेदान्तविद्या का अधिकारी है]

नित्यानित्यवस्तुविवेक—'ब्रह्म ही एक नित्य वस्तु है उसके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुयें अनित्य हैं', ऐसा समझना नित्यानित्यवस्तुविवेक है। [ब्रह्म की एकता और नित्यता को प्रमाणित करने वाली कुछ श्रुतियां प्रमाणरूप से यहां उद्धृत की जाती हैं—

(१) नित्यं विभुं सर्वंगतं सुसूक्ष्मम् (मुण्डक १।१।६)

(२) अजो नित्यः शाश्वतः (कठ २।१८)

(३) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋक् १।१६४।४६)

ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य है इसमें निम्नलिखित श्रुतियां प्रमाणरूप से उद्धृत की जाती हैं—

(१) यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम् (छा० ७।२४।१)
(२) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत् (ऐ० १।१।११)
(३) नेह नानास्ति किञ्चन ।

(ग) विराग—इस लोक की भोगविलास-सम्बन्धी सभी सामग्री कर्मजन्य तथा अनित्य है आज जो वस्तु दीखती है वह कल नष्ट हो सकती है, कर्म-जन्य यज्ञादिकों से प्राप्त स्वर्गादि तथा वहाँ की सब सामग्री भी अनित्य होगी ऐसा निश्चय करके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक इन दोनों प्रकार की वस्तुओं से घृणा हो जाने को विराग कहते हैं ।

(ग) शमादि—१–जिस प्रकार भूख–प्यास शान्त करने के साधन अन्न-जल हैं और भूखे–प्यासे का मन वार-वार अन्न, पानी की ओर दौड़ता रहता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के साधन श्रवण, मनन इत्यादि हैं। उन श्रवण, मनन इत्यादि को छोड़कर अन्य जो सांसारिक विषय हैं उनमें वार-वार दौड़ कर जाते हुए मन को एक विशेष प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति रोकती है। इसी रोकने वाली वृत्ति को शम कहते हैं ।

२–दम—ब्रह्म-साक्षात्कार के साधनभूत जो श्रवण-मननादि हैं उनसे अतिरिक्त विषयों से चक्षु:; श्रोत्र आदि बहिरिन्द्रियों का हटा लेना दम कहलाता है ।

३–उपरति—श्रवण, मनन इत्यादि से अतिरिक्त जो विषय हैं उनसे हटाई हुई इन्द्रियाँ श्रवण-मननादि ज्ञान के साधनभूत शब्दादिकों से अतिरिक्त शब्दादिकों में जाने ही न पावें यह जिस वृत्ति के द्वारा होता है उसे उपरति कहते हैं ।

(मनरूप अन्तरिन्द्रिय का निरोध शम है; बाह्य इन्द्रियों का निरोध दम है; उपरति भी एक प्रकार का निरोध ही है । अकः इनमें पारस्परिक समानता का भ्रम निवारण करने के लिए उपरति का दूसरा लक्षण लिखते हैं–अथवा इत्यादि)

जो नित्य-नैमित्तिकादि कर्म जैसे सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र इत्यादि गृहस्थादिकों को करने के लिए शास्त्रों में कहे गये उनका संन्यास[1] आश्रम स्वीकार करके शास्त्रोक्त विधिपूर्वक परित्याग कर देना उपरति कहलाता है ।

१, शमादिकों की तरह संन्यास भी आत्मज्ञान का अन्तरङ्ग साधन है अतः मुमुक्षु के लिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है । इस विषय में 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इत्यादि श्रुति तथा 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति'

४-तितिक्षा—सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि तथा इनसे उत्पन्न दुःख-सुखादि का अनुभव सबको होता है किन्तु यह समझकर कि यह तो शरीर-धर्म है आत्मा को यह सर्दी-गर्मी कुछ नहीं इस प्रकार के ज्ञान द्वारा सबका सहन कर लेना तितिक्षा है।

५–समाधान—वश में किए हुए मन को श्रवण-मनन इत्यादि में लगाने तथा उनके अनुकूल निरभिमानित्वादि के निरन्तर चिन्तन एवं गुरुशुश्रूषादि को समाधान कहते हैं।

६–श्रद्धा—गुरु के कहे हुए वेदान्त–वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है।

१–मुमुक्षुत्व—अज्ञान तथा अज्ञानजन्य सांसारिक भान को ज्ञान के द्वारा नष्ट करके ब्रह्मस्वरूप में स्थित होने की दशा को मोक्ष कहते हैं। ऐसी मोक्ष की भावना से युक्त होना मुमुक्षुत्व है।

इस प्रकार जिस जीव को लौकिक-वैदिक व्यवहारों में किसी प्रकार का भ्रम नहीं, वही आत्मज्ञान का अधिकारी है, जैसा कि उपदेशसाहस्री में कहा गया है-प्रशान्तचित्तायेति—जिसका चित्त शान्त हो, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, जिसका अन्तःकरण बिल्कुल शुद्ध हो, जो पूर्वोक्त बातें (काम्य-निषिद्ध–वर्जनपूर्वक नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान) करता हो, जिसमें विवेक, वैराग्य आदि गुण वर्तमान हों, जो गुरु का अनुगामी हो एवं गुरु के वाक्य में श्रद्धा रखता हो ऐसे मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को ही आत्मज्ञान देना चाहिये।

[यहां तक अधिकारी रूप प्रथम अनुबन्ध का निरूपण करके आगे विषय इत्यादि अन्य तीन अनुबन्धों का निरूपण करते हैं—]

(२) विषय—अविद्या के कारण जीव और ब्रह्म में अध्यारोपित जो किञ्चिज्ज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादि विरुद्ध धर्म हैं उनके परित्याग कर देने के पश्चात् शुद्ध चैतन्य अवशिष्ट रहता है वही (जीव-ब्रह्म की एकता) सब वेदान्त वाक्यों का प्रतिपाद्य विषय है। यहाँ 'जीवब्रह्मैक्यम्' के बाद 'शुद्धचैतन्यम्' कहने का तात्पर्य यह

इत्यादि स्मृति प्रमाण हैं। यज्ञादि कर्मों में विक्षिप्त चित्त रहने से तथा ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व इत्यादि विरोधी भावनाओं के बने रहने तक भलीभाँति वेदान्त अर्थ का विचार न हो पायेगा अतः श्रुति-स्मृति की आज्ञानुसार कर्तव्य रूप जो आत्मज्ञान का अङ्गभूत संन्यास है उसे उपरति कहते हैं।

है कि वेदान्तप्रतिपाद्य विषय जीव और ब्रह्म की एकता है किन्तु वह एकता शुद्ध चैतन्य एकता है—दूध और जल की तरह अलग-अलग किन्तु मिश्रित होने के कारण तद्रूप एकता नहीं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादि सभी वेदान्त-वाक्यों में इसी शुद्ध चैतन्य का प्रतिपादन किया गया है।

(३) सम्बन्ध—जीव-ब्रह्म की एकतारूपी जो विषय (प्रमेय) है और उसके प्रतिपादक जो वाक्य (प्रमाण) हैं उनका बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध है—जीव-ब्रह्मैक्य बोध्य है और उसके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य बोधक हैं।

(४) प्रयोजन—आत्मगत अज्ञान और उस अज्ञानजन्य सकलप्रपञ्च की निवृत्तिपूर्वक स्वरूप के परिचय हो जाने से अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है। यही बात 'तरति शोकमात्मवित्', ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतियों में कही गई है ॥ ४ ॥

31/5/68

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलतप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि श्रुतेः। स परमकृपया 'अध्यारोपापवाद' न्यायेनैनमुपदिशति 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादि श्रुतेः ॥ ५ ॥

'एवं पूर्वोक्तलक्षणयुक्तो ब्रह्मज्ञानाधिकारी जनुर्मरणादिसांसारिककष्टपीडितः प्रखरतरतरणिकिरणौष्ण्यपीडितो मनुष्यः स्वक्लान्तिमपनुनुत्सुः सरोवरमिव वेदान्तविद्यानिष्णातं गुरुमनुरूपपत्रपुष्पाद्युपहृतिपाणिरुपसृत्य श्रद्धापूर्वकं तदुपदिष्टमनुसरन्मनसा वाचा कर्मणा च तं वरिवस्यति। स च गुरुर्जिज्ञासावस्मिन्नतिदयालुरध्यारोपापवाद-न्यायेन ब्रह्मरूपमतिरहस्यमस्मै समुपदिशति। जिज्ञासोर्गुरोश्च कर्तव्यरूपेणैतौ गुरूपसत्तिगुरुज्ञानोपदेशौ 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' तथा 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतिभिरपि प्रमाणितौ ॥ ५ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त ब्रह्मज्ञान का यह अधिकारी जन्म-मरण राग-द्वेषादि सांसारिक कष्टों से पीडित होने के कारण, जैसे भयानक गर्मी से अत्यन्त पीडित मनुष्य अपनी व्याकुलता शान्त करने के लिये जलाशय के पास भागता है उसी प्रकार वेदान्तविद्या में अत्यन्त विशिष्ट विद्वान् गुरु के पास उनके

अनुकूल पत्र-पुष्पादि भेंट लेकर आता है और श्रद्धापूर्वक उनके उपदेशों का अनुसरण करता हुआ मन-वाणी और कर्म से उनकी सेवा करता है। तब वे गुरु इस प्रकार के ब्रह्मजिज्ञासु के ऊपर अत्यन्त कृपालु होकर 'अध्यारोपापवाद' न्याय से ब्रह्मरूप परम रहस्य का उपदेश करते हैं।

जिज्ञासु और गुरु के ये कर्तव्य (गुरु के पास जाना और गुरु का ज्ञानोपदेश करना) 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' तथा 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादि श्रुतियों में भी कहे गये हैं ॥ ५ ॥

अध्यारोपः

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च ॥

अतस्मिंस्तद्बुद्धिरारोपः। कस्मिंश्चिद्वस्तुनि तत्समानावस्तुभ्रम इति भावः। यथा रज्जौ सर्पस्य शुक्तौ रजतस्य वा भ्रमः। अन्धकारपतितरज्जुदर्शकस्य रज्जुविषयकमज्ञानं सर्पाकारपरिणतिमासादयति किन्तु सावहितिरज्जुदर्शनानन्तरं तदज्ञाननिवृत्तौ सर्पभ्रान्तिरपसर्पति। एवं स्वयंप्रकाशानन्तब्रह्मरूपवस्तुनि अज्ञानं तज्जन्यमखिलचराचरप्रपञ्चरूपञ्चावस्तु समवभासते किन्तु ब्रह्मरूपवस्तुनि ज्ञाते जगद्रूपावस्तुभ्रान्तिर्निवर्तते। अयमेव ब्रह्मरूपिणि वस्तुनि जगद्रूपावस्तुभ्रमोऽध्यारोपः। अयमेव विवर्तोऽध्यास[1] इति चोच्यते।

अज्ञान (माया) निरूपणम्—अध्यारोपो वस्त्ववस्त्वपेक्षः। रज्जुसर्पाध्यारोपे रज्जुर्वस्तु सर्पश्चावस्तु। एवं ब्रह्मजगदध्यारोपे स्वयंप्रकाशचैतन्यानन्दस्वरूपं वस्तु अज्ञानं तथा तज्जन्यं दृश्यमानतया सावयवत्वेन च विनश्वरमखिलं जगदवस्तु। एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह–अज्ञानं त्वित्यादिना। अज्ञानस्वरूपम्–तत्र

१. यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यास इत्याहुरमुं विपश्चितः। असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ॥

किमित्यज्ञानं नामेति जिज्ञासायां न तत्कथमपि परिभाषयितुं शक्यते इति तदनिर्वचनीयमेव यत्किंचिदित्युत्तरम्। कथमिति चेद् ? इत्थम्—अज्ञानं न सत् नापि चासत्। सत्त्वे च तस्य सर्वदा सर्वत्र च वर्तमानतया बाधो न स्यात्, किन्तु ब्रह्मबोधानन्तरं तस्य बाधोऽनिर्बाधः इति न तत्सत्। न चाप्येतदसत्; तथात्वे च तस्य जडपदार्थाभासकारणत्वानुपपत्तेः (नासत्तस्य वस्तुनः कस्यापि कारणत्वमुपपद्यते)। किञ्च तस्य प्रतीतिर्भवतीति हेतोरपि तस्यासत्त्वं प्रतिपादयितुं न शक्यते। एवञ्च 'तत्सच्चेन्न बाध्येत असच्चेन्न प्रतीयेत' अतः सत्त्वासत्त्वराहित्येनाज्ञानमनिर्वचनीयम्।

नन्वेवमज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वे तस्याभावप्रसङ्ग इत्यत आह—त्रिगुणात्मकमिति। 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतिभिस्तस्याजत्वसत्त्वरजस्तमोगुणत्वात्मकत्वरूपसत्तावत्त्वप्रतिपादनादिति भावः। नन्वेवमप्याकाशवत्तस्य विभुत्वे संसारात्तदनिवृत्त्यापत्तिरित्यत आह—ज्ञानविरोधीति। अज्ञानस्य तथात्वेऽप्यात्मसाक्षात्कारेण तन्निवृत्तिरिति भावः। यथा चोक्तं गीतायाम्—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'। एवं तस्याज्ञानस्य (मायायाः, अविद्यायाः) त्रिगुणात्मकत्वेऽपि 'इदमित्थम्' 'इयद्वेति' कृत्वा तत्प्रदर्शनासम्भवादाह—यत्किंचिदिति। सर्वशक्तिसम्पन्नं तत् किमपि विचित्रमेव, यतो हि न तत्सत्, नाप्यसत्; न सावयवम्, न निरवयवम्, नापि चोभयरूपम्; एवञ्च तस्य सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन वा सावयवनिरवयवोभयात्मकत्वेन वा, भिन्नाभिन्नोभयरूपत्वेन वा वक्तुमशक्यत्वेनानिर्वचनीयत्वम्। तस्य ज्ञानञ्च प्रकाशेन तमोदर्शनमिवासम्भवीति वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावल्यामप्यभिहितम्—

अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद्यो मानेनात्यन्तमूढधीः। स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा॥

एवंभूताज्ञानेऽहमज्ञः, मामहं न जानामीति प्रत्यक्षावभास एव गमकम्। अत एव श्वेताश्वतरोपनिषदि इदमज्ञानम् (माया) 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (देवस्य स्वयं प्रकाशस्यात्मनः शक्तिम् शक्तिवत्परतन्त्राम्, स्वगुणैः शुक्लादिभिः सत्त्वादिभिर्वा निगूढाम् आलिङ्गिताम्) इत्येवंरूपेण प्रतिपादितम्।

विशेषः—शङ्कराचार्येणाज्ञानार्थेऽविद्या-मायाशब्दौ प्रयुज्य माया भगवतोऽव्यक्तशक्तिरुक्ता। सा सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्ता, कार्यानुमेयसत्ता, जगदुत्पादिकाऽनादिशक्तिः—

यथा चोक्तम्—

अव्यक्तनारी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥

अपि च—

सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम् ॥ ६ ॥

किसी वस्तु में उसी के समान अन्य वस्तु के आरोप (भ्रम) को अध्यारोप कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प का भान होना अध्यारोप है। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी देखनेवाले का रस्सीविषयक अज्ञान सर्प के आकार में परिणत हो जाता है किन्तु पास जाकर भलीभांति देखने से वह अज्ञान दूर होकर यह निश्चित हो जाता है कि साँप नहीं प्रत्युत रस्सी है। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश अनन्त ब्रह्मरूपी वस्तु में अज्ञान तथा तज्जन्य सम्पूर्ण चराचर जगत्रूपी अवस्तु भासित होती है किन्तु ब्रह्मरूपी वस्तु के ज्ञात हो जाने पर जगत्रूपी अवस्तु का भ्रम जाता रहता है। यही ब्रह्मरूपी वस्तु में जगत्रूपी अवस्तु का आरोप (भ्रम) अध्यारोप है। इसी को अध्यास या विवर्त भी कहते हैं।

अज्ञाननिरूपणः—अध्यारोप में वस्तु और अवस्तु अपेक्षित है। रस्सी में साँप का अध्यारोप होने पर रस्सी वस्तु है, साँप अवस्तु है। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत्-सम्बन्धी अध्यारोप में सर्वदा एवं सर्वत्र रहनेवाला स्वयंप्रकाश चेतन, आनन्दस्वरूप ब्रह्म वस्तु है। अज्ञान तथा ज्ञान से उत्पन्न जड़ पदार्थ समूह, जो कि दिखलाई देता है तथा सावयव होने के कारण नश्वर है, सब अवस्तु है। इसी बात को और स्पष्ट करने के लिये 'अज्ञानं तु' इत्यादि लिख कर अज्ञान का स्वरूप बतलाया गया है। अज्ञान न तो सत् है और न असत् है, यदि सत् होता तो वह सर्वदा तथा सब जगह रहता और कभी बाधित न होता; पर ऐसा नहीं है क्योंकि ब्रह्मबोध हो जाने पर उसका नाश हो जाता है। अज्ञान असत् भी नहीं, क्योंकि ऐसा होने से वह जड़ पदार्थों के आभास आदि का कारण नहीं हो सकता [जिसकी सत्ता ही नहीं वह किसी वस्तु का कारण कैसे बन सकता है] इसके अतिरिक्त उसकी प्रतीति होती है इस कारण भी उसे असत्

नहीं कह सकते। अतः वह 'सच्चेन्न बाध्येत असच्चेन्न प्रतीयेत' इस प्रकार सत्त्व और असत्त्व दोनों से रहित होने के कारण अनिर्वचनीय है।

अब यह सन्देह होता है कि यदि अज्ञान (अविद्या) अनिर्वचनीय है और किसी भी प्रकार जाना ही नहीं जा सकता तो उसकी सत्ता ही न होगी। इस सन्देह को दूर करने के लिए उसका विशेषण 'त्रिगुणात्मकम्' दिया गया है। अर्थात् 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको-जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इत्यादि श्रुतियों से यह प्रमाणित होता है कि वह 'अज' है, तथा सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक है। अतः वह सत्ताहीन नहीं प्रत्युत उसकी सत्ता है किन्तु फिर भी यह सन्देह होता है कि यदि अज्ञान (अविद्या) 'अज' है तो आकाशादि की तरह सर्वत्र विद्यमान एवं सत्यवत् भासित होने के कारण वह संसार से निवृत्त कैसे हो सकता है इस सन्देह को दूर करने के लिये उसका दूसरा विशेषण ज्ञानविरोधि दिया गया है। अर्थात् अज्ञान अज है, त्रिगुणात्मक है तथापि आत्मसाक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाता है। यही बात' गीता में भी कही गई है:—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

इस प्रकार यह अज्ञान (अविद्या, माया) त्रिगुणात्मक भावरूप तो है किन्तु वह 'ऐसा ही है' 'यही है' इस प्रकार निश्चय करके नहीं प्रदर्शित किया जा सकता। इसीलिये उसको 'यत्किञ्चित्' कहा गया है, अर्थात् सर्वशक्तिसम्पन्न वह कुछ विचित्र ही है क्योंकि वह न तो सत् है और न असत् है और न सदसदुभयरूप है, न सावयव है, न निरवयव है और न सावयवनिरवयोभयरूप है। अतः उसका किसी भी रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी कारण उसको 'अनि-र्वचनीय' कहा गया है। उसका जानना वैसा ही है जैसे अत्यन्त प्रकाश के द्वारा अँधेरा का देखना। इसीलिए वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली में कहा गया है :—

'अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो मानेनात्यन्तमूढधीः। स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा।'

इस प्रकार के अज्ञान में 'अहमज्ञः' 'मामहं न जानामि' इत्यादि प्रत्यक्षाव-

---

१. जिसकी सत्त्वेन या असत्त्वेन किसी भी रूप से सत्ता नहीं, उसे वेदान्त में अनि-र्वचनीय कहते हैं।

भास ही प्रमाण है। इसी कारण श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस (अज्ञान, माया) को 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' कहा गया है।

विशेष—शङ्कराचार्य ने इसी अज्ञान के लिये अविद्या तथा माया शब्द का प्रयोग किया है और यह कहा है कि यह माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है। वह सत्, रज, तम इन तीनों गुणों से युक्त है। उसके आदि का पता नहीं। उसकी सत्ता का पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है—

'अव्यक्तनारी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥'

वह न सत् है न असत् और न सदसदुभयरूप है। वह न भिन्न है न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्नोभयरूप है। न अंग-सहित है न अङ्ग-रहित है और न उभयरूप है किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीय है। वह ऐसी है जिसको कोई बतला ही नहीं सकता :—

'सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाऽप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाऽप्यनङ्गाऽप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥६॥'

समष्टिव्यष्टिरूपाज्ञानभेदद्वयी

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि—यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम्'-इत्यादिश्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इतिश्रुतेः। ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभि-

प्रायेण जलानीति तथा ज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात्। अस्यापीदमहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते ॥ ७ ॥

भेदः—'अजामेकामि'त्यादिश्रुतिभिरज्ञानस्यैकत्वे प्रतिपादितेऽपि 'इन्द्रो मायाभि'रित्यादिश्रुतिभिस्तस्यानेकत्वप्रतिपादनात्सन्दिग्धिरिति तन्निरासाय समष्टिव्यष्टिरूपेणाज्ञानं द्विधा विभज्य तथा हीत्यादिनोदाहृत्य स्पष्टीक्रियते—

भिन्नजातीयवृक्षाणां सामूहिकरूपेण यथा वनमित्येकत्वविशिष्टा संज्ञा, यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति संज्ञा तथैवानेकत्वेन प्रतीयमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण 'अज्ञानम्' इत्येकत्वव्यपदेशे 'अजामेकामि'त्यादिश्रुतीनामविरोधः। अज्ञानस्यैतत्ससमष्टिरूपम्।

ईश्वरचैतन्यम्—अस्मिन् समष्टिभूताज्ञाने रजस्तमोऽनभिभूतसत्त्वगुणस्य प्राधान्यम्। एवंभूतसत्त्वप्रधानाज्ञानसमष्ट्युपहितचैतन्यं सर्वचराचरप्रपञ्चस्य साक्षितया सर्वज्ञातृत्वेन सर्वज्ञः तथा सर्वेषां जीवानां कर्मानुरूपफलदातृत्वेन सर्वेश्वरः, सर्वेषां प्राणिनामन्तःस्थित्वा तद्बुद्धिनियामकत्वेन सर्वान्तर्यामी, एवं सम्पूर्णचराचरात्मकप्रपञ्चोत्पादकविवर्ताधिष्ठानत्वेनेश्वरश्चोच्यते। तच्च समष्टिभूताज्ञानस्यावभासकम्। सामान्यरूपेण स सर्वं जानाति विशेषरूपेणापि च न किञ्चित्तदविज्ञातं वर्तते, 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' एषा श्रुतिरिदम्परा। 'तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः' इत्यादियोगवाशिष्ठवाक्यमप्येतत्परकमेव।

ईश्वरस्येयं समष्टिः (समुदायोपाधिः) सर्वस्य कारणमिति कारणशरीरम्, आनन्दप्राचुर्यादानन्दमयः, आत्मनः कोशवदाच्छादकत्वाच्च कोश इति चोच्यते। अत्रैव हि जाग्रदवस्थाविशिष्टपञ्चीकृतभूतकार्यस्वरूपस्थूलप्रपञ्चस्य, स्वप्नावस्थाविशिष्टापञ्चीकृतभूतकार्यस्वरूपसूक्ष्मस्वाप्नप्रपञ्चस्य च लय इत्येषा सुषुप्तिः, स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। कारणावस्थायां प्रकृतिपुरुषावतिरिच्य स्थूल-

सूक्ष्मकार्यप्रपञ्चं न किमपि तिष्ठतीति तत्रानन्दप्राचुर्यम्। यथा च त्वक् शरीरमाच्छादयति तथैवाज्ञानमप्यात्मानमावृणोतीति कोशः, तथा सम्पूर्णस्थूलसूक्ष्मोपाधयोऽस्मिन्नेव कारणोपाधौ विलीयन्तेऽतः सुषुप्तिरित्युच्यते।

प्राज्ञचैतन्यम्—भिन्नजातीयतरुषु सामूहिकरूपेण यथा वनमिति व्यवहृतिः, पार्थक्येन च प्रत्येकवृक्षजिज्ञपयिषया यथा तत्राम्रः, खदिरः, पलाश इत्यादिव्यवहृतिः, यथा वा सर्वेषां जलानामेकत्वबुबोधयिषया जलाशय इति व्यपदिष्टिः पार्थक्येन च प्रत्येकजलजिज्ञपयिषया नदीतडागादिव्यपदिष्टिः। एवमखिलप्रपञ्चकारणभूताज्ञाने समष्टिरूपेणाज्ञानमिति व्यवहारः किन्तु जीवगताहंकारादिकारणभूताज्ञाने व्यष्टिरूपेण भिन्नत्वविवक्षया वहुत्वव्यवहारः। एतदेव 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (इन्द्रः परमेश्वरः मायाभिः अज्ञानैः, पुरुरूपः वहुरूपः, ईयते प्रकाशते), इति श्रुत्यापि स्पष्टीकृतम्। इदञ्चाज्ञानस्य व्यष्टिरूपं निकृष्टस्य (जीवस्य) चोपाधिः। इत्थञ्चाज्ञानस्य (अविद्यायाः) एकत्वेऽपि सामूहिकरूपेण दृश्यमानाखिलप्रपञ्चस्य हेतुतया पार्थक्येनाहङ्कारादीनामपि कारणत्वेन च तस्मिन्मृत्पिण्डवन्मृद्घटादिवद् वा स्वर्णपिण्डवत्तन्निर्मितकटककुण्डलवद् वाऽभेदविवक्षया समष्टिव्यष्टिताव्यवहारो न विरुध्यते।

जीवगताहङ्कारादिकारणभूतस्याज्ञानस्यास्यां व्यष्टौ रजस्तमोऽभिभूतस्य मलिनसत्त्वस्य प्राधान्यम्। तदुपहितचैतन्यमप्यल्पज्ञतयाऽनीश्वरतयैकाज्ञानस्यैकांशावभासकत्वेन च (भिन्नभिन्नजीवगताज्ञानावभासकत्वेन) प्रकृष्टेन अज्ञः प्राज्ञः उच्यते। किन्तु यथेश्वरचैतन्यगताज्ञाने कारणशरीरम्, आनन्दमयकोशः, सुषुप्तिरित्यादिव्यवहृतस्तथैव प्राज्ञचैतन्यगताज्ञानेऽपीति बोध्यम्। यतो हि यथा प्रलयकाले ईश्वरचैतन्यगताज्ञानं सम्पूर्णप्रपञ्चस्य हिरण्यगर्भादिरुत्पादकत्वेन कारणशरीरम्, उच्यते, तदानीं प्रकृतिपुरुषावतिरिच्यान्यस्य स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्याभावादानन्दमयत्वम्, तथा स्थूलसूक्ष्माखिलोपाधीनां विलयनाधारत्वात्सर्वप्रपञ्चलयस्थानं सुषुप्तिरिति चोच्यते तथैव प्राज्ञचैतन्यगताज्ञानमपि सुषुप्तिकालेऽज्ञानादिशरीरोत्पादकमिति कारणशरीरम्, सुषुप्तिकाले चेन्द्रियाणां तद्विषयाणां च राहित्येन कस्याश्चिदप्यासक्तेरभावादानन्दप्राचुर्येणानन्दमयम्, प्राज्ञचैतन्याच्छादकत्वेन च कोशः एवं स्थूलसूक्ष्मशरीरविलयनाधारत्वात् स्थूलसूक्ष्मशरीरलयस्थानमिति सुषुप्तिश्चोच्यते।

[पञ्चीकृतस्थूलशरीरं (व्यावहारिकसत्ता) अपञ्चीकृतसूक्ष्मशरीरे (प्राति-

भासिकसत्तायाम्) विलीयते । तदनन्तरं तस्यापि च (प्रातिभासिकप्रपञ्चस्य) स्वकारणभूताज्ञाने विलीनत्वात्सर्वोपरतिः । यथा चोक्तं वाक्यसुधायाम्—

'लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके' इत्यादि ।

फेनो हि यदा जले विलीयते तदा तदीयांशिकद्रवत्वादितराङ्गेष्ववशिनष्टि । तस्मिन्नपि च द्रवत्वादौ जलेसर्वथाविलीने पूर्ववच्छुद्ध जलमेवावतिष्ठते । एवमेव पूर्व-व्यावहारिकसत्ता प्रातिभासिकसत्तायां विलयं याति ततस्तस्यामपि च विलीनायां शुद्धचैतन्यमात्रमवतिष्ठते इति भावः ॥ ७ ॥

समष्टि और व्यष्टिरूप अज्ञान के दो भेद—'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुतियोंसे अज्ञान एक सिद्ध होता है परन्तु 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह अनेक है। अतः इस सन्देहके निवारण करने के लिये अज्ञान का विभाग करते हैं। अर्थात् वह अज्ञान एक भी है और अनेक भी है—समष्टि (सामान्य) रूपसे एक है और व्यष्टि (अलग-अलग) रूपसे अनेक है। इसी बात को उदाहरण द्वारा और स्पष्ट करते हैं :—

जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत से वृक्षों को सामूहिकरूप से वन कहते हैं तथा नदी-तालाब इत्यादि भिन्न-भिन्न जलों को जलाशय कहते हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए प्रत्येक जीवगत अज्ञानों के लिये 'अज्ञान' यह एक ही शब्द व्यवहृत होता है, क्योंकि 'अजामेकाम्' यहाँ पर उस अज्ञान (अविद्या-माया) को एक ही कहा गया है। यह अज्ञान का समष्टि (सामान्य) रूप है। यह समष्टि उत्कृष्ट की अर्थात् ज्ञानात्मक चैतन्य की उपाधि है।

ईश्वर चैतन्य—इस समष्टिभूत अज्ञान में रजोगुण तथा तमोगुण से अन-भिभूत सत्त्वगुण की प्रधानता है। इस प्रकार से सत्त्वप्रधान समष्टिभूत अज्ञान से उपहित जो चैतन्य है वह सर्वज्ञ है, (सर्वं जानाति) क्योंकि वह चराचरात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च का साक्षी है तथा सम्पूर्ण जीवों को कर्मानुरूप फल देने के कारण 'सर्वस्येष्टे' अर्थात् सर्वेश्वर कहलाता है, वह सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरण में स्थित होकर बुद्धि का नियामक होने के कारण 'सर्वं नियच्छति' अर्थात् सर्वान्तर्यामी है और सम्पूर्ण चराचरात्मक प्रपञ्च के उत्पादक विवर्त का अधिष्ठान होने के कारण ईश्वर कहलाता है तथा समष्टिभूत अज्ञान का अवभासक है। वह 'सर्वज्ञ' है अर्थात् सामान्यरूप से सब कुछ जानता है तथा 'सर्ववित्' है

अर्थात् विशेषरूप से भी कोई वस्तु उसे अज्ञात नहीं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' श्रुति इसी बात का प्रतिपादन करती है और योगवासिष्ठ में भी यही बात निम्नाङ्कित-रूप से स्पष्ट की गई:—

'तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः' (६।४८।२३)

ईश्वर की यही समष्टि (समुदायोपाधि) सबका कारण है; अतः इसे कारण शरीर कहते हैं। इसमें आनन्द का प्राचुर्य है तथा यही समष्टिभूत अज्ञान आत्मा को कोश की तरह ढक लेता है; अतः इसे आनन्दमय कोश कहते हैं एवं जाग्रत् अवस्थाविशिष्ट जो पञ्चीकृत भूतों का कार्यस्वरूप स्थूलप्रपञ्च स्वप्नावस्था-विशिष्ट अपञ्चीकृतभूतों का कार्यस्वरूप जो सूक्ष्मस्वाप्नप्रपञ्च-ये दोनों इसी में विलीन होते हैं इसलिये इसे सुषुप्ति—स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च के लय का स्थान भी कहते हैं, अर्थात् कारणावस्था में प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त स्थूल-सूक्ष्म कार्य-प्रपञ्च कुछ नहीं रहता अतः उसमें आनन्द-बाहुल्य रहता है और जिस प्रकार त्वचा शरीर को ढके रहती है उसी प्रकार अज्ञान आत्मा को ढक लेता है। इसलिये इसे कोश कहते हैं तथा सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म उपाधि इसी कारणोपाधि में लीन हो जाती है अतः सुषुप्ति कहते हैं।

प्राज्ञचैतन्य—जिस प्रकार भिन्न-भिन्न बहुत से वृक्षों को जब सामूहिक रूप में कहना होता है तो उन सबको वन कहते हैं; किन्तु जब एक-एक का अलग-अलग ज्ञान कराना होता है तो आम, जामुन, पलाश इत्यादि भिन्न-भिन्न वृक्षों के नामों से पुकारते हैं, अथवा जैसे सम्पूर्ण कूप-तडागादि में जल एक ही है अतः जल का बोध कराने के लिये सबको जलाशय कहकर उन सब में सामूहिकरूप से एकत्व व्यवहार करते हैं किन्तु अलग-अलग बोध कराने के लिये कूप, तडाग, नदी इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामों से पुकार कर उनमें बहुत्व व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार सकल प्रपंच के कारणभूत अज्ञान में समष्टिरूप से 'अज्ञान' इस प्रकार एकत्व व्यवहार करते हैं किन्तु जीवगत अहंकार आदि के कारणभूत अज्ञान को व्यष्टिरूप में (अलग-अलग) 'कई एक अज्ञान' इस प्रकार बहुत्व का व्यवहार करते हैं। यही बात 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (इन्द्रः परमेश्वरः मायाभिः अज्ञानैः, पुरुरूपः बहुरूपः, ईयते प्रकाशते) में स्पष्ट की गई है। यह अज्ञान (अविद्या) का व्यष्टि (अलग-अलग) रूप है और निकृष्टि की अर्थात् जीव की उपाधि है।

समष्टि और व्यष्टि रूप में अज्ञान का यह व्यवहार इस कारण होता है कि वही एक अज्ञान (अविद्या) सामूहिक रूप से दृश्यमान सकल प्रपञ्च का हेतु है तथा अलग-अलग अहंकार आदि का भी हेतु है [जैसे सामूहिक रूप से सुवर्ण पिण्ड सोना है किन्तु अलग-अलग उसके बने हुए कटक-कुण्डल आदि भी सोना है ।] जीवगत अहंकार के कारणभूत अज्ञान की इस व्यष्टि में रज-तम से अभिभूत मलिन सत्त्व की प्रधानता है । इस प्रकार के व्यष्टिरूप अज्ञान से उपहित (अविद्योपहित) जो चैतन्य है वह अल्पज्ञ तथा अनीश्वर होने के कारण प्राज्ञ (प्रकृष्टेन अज्ञः) कहलाता है; क्योंकि यह अज्ञान के एक ही अंश का (भिन्न-भिन्न जीवगत अलग-अलग अज्ञान का) प्रकाशक है अर्थात् निकृष्टोपाधि होने के कारण (सर्वं जानाति सर्वं नियच्छति इत्यादि विशेषताओं के न होने के कारण) अत्यन्त प्रकाशक नहीं, किन्तु जिस प्रकार ईश्वर चैतन्यगत अज्ञान में 'कारण शरीर' 'आनन्दमय कोश' 'सुषुप्ति' यह व्यवहार होता है उसी प्रकार पूर्वोक्त सभी बातें प्राज्ञ चैतन्यगत अज्ञान में भी व्यवहृत होती हैं क्योंकि जिस प्रकार प्रलयकाल में ईश्वर चैतन्यगत अज्ञान सम्पूर्ण प्रपञ्च हिरण्यगर्भादि का उत्पादक होने के कारण 'कारणशरीर' कहलाता है, उस अवस्था में प्रकृति–पुरुष से अतिरिक्त स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च कुछ नहीं रहता अतः आनन्दमय कहलाता है तथा स्थूल सूक्ष्म सम्पूर्ण उपाधियों के लीन हो जाने का आधार होने के कारण सर्वप्रपञ्चलयस्थान और सुषुप्ति कहलाता है उसी प्रकार प्राज्ञ चैतन्यगत अज्ञान भी सुषुप्तिकाल में अहंकारादि शरीर का उत्पादक है अतः कारणशरीर है । सुषुप्तिकाल में इन्द्रियाँ या उनके कोई विषय नहीं रहते अतः कोई आसक्ति न होने के कारण आनन्दप्राचुर्य रहता है अतः आनन्दमय है, प्राज्ञचैतन्य का आच्छादक होने के कारण 'कोश' है एवं स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के लय का आधार होने के कारण स्थूलसूक्ष्मशरीरलयस्थान और सुषुप्ति है अर्थात् पंचीकृत स्थूल शरीर (व्यावहारिक सत्ता) अपंचीकृत सूक्ष्म शरीर (प्रातिभासिक सत्ता) में विलीन हो जाता है तदनन्तर उस प्रातिभासिक सत्ता (स्वाप्नप्रपंच) के भी अपने कारणभूत अज्ञान में लीन हो जाने के कारण सर्वोपरति हो जाती है । यही बात वाक्यसुधा में निम्नाङ्कित रूप से कही गई है :—

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके। तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥
व्यावहारिकजीवस्य लयः स्यात्प्रातिभासिके। तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ॥

(पानी में जब फेन घुल जाता है तब उसका यत्किञ्चित् अंश द्रवत्व आदि तरङ्गों में अवशिष्ट रह जाता है और जब वह सब अंश भी पानी में भली भाँति घुल-मिल जाता है तो पहले की तरह शुद्ध जलीयांश ज्यों का त्यों रह जाता है। इसी प्रकार पहले व्यावहारिक जीव की सत्ता प्रातिभासिक सत्ता में विलीन होती है तदनन्तर वह प्रातिभासिक सत्ता भी विलीन हो जाती है और शुद्ध चैतन्यांशमात्र अवशिष्ट रह जाता है) ॥ ७ ॥

ईश्वरप्राज्ञयोः स्वात्मानन्दानुभवः

समष्टिव्यष्ट्योरीश्वरप्राज्ञयोरभेदत्वञ्च तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवत 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमि'त्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः 'एष सर्वेश्वर' इत्यादिश्रुतेः ॥ ८ ॥

ईश्वरप्राज्ञयोः स्वात्मानन्दानुभवः—प्रलयकाले ईश्वरः सुषुप्तौ च प्राज्ञः एवमुभावप्यानन्दप्राचुर्यात्स्वात्मानन्दमनुभवतः इत्युक्तपूर्वम्। परमत्रेयं विचिकित्सा यत्प्रलयकाले सुषुप्तौ वा नैवान्तःकरणम्, नापि वा तद्वृत्तिर्यया चानन्दो गृह्येत अतः कथमीश्वरेण प्राज्ञेन वा स्वात्मानन्दोऽनुभूयते एतत्समाधित्सुराह—तदानीमित्यादि। अर्थात् अन्तःकरणवृत्तिरिव चैतन्यप्रदीप्ताज्ञानस्यापि सूक्ष्मा वृत्तयो भवन्ति, अतः स्वसूक्ष्माज्ञानवृत्तिभिरीश्वरस्तथा प्राज्ञोऽपि प्रलये सुषुप्तौ च स्वरूपानन्दमनुभवतः। माण्डूक्योपनिषदि—'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्—' इत्यादिना इदमेव प्रतिपादितम्। सुषुप्तावानन्दोऽनुभूयते इत्यत्र 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति परामर्शोऽपि प्रमाणम्। शयनानन्तरमुत्थितो जीवोऽभिधत्ते 'सुखमहमस्वाप्समिति'। एतेन स्पष्टीभवति—'यदस्यां दशायां यद्यप्यन्यज्ज्ञानं नासीत् तथाऽप्यहं सुखेनास्मि' इत्येतज्ज्ञानमासीत्।

विशेषः—ज्ञानं हि जीवात्मनो नैसर्गिकगुण इत्यग्नेरौष्ण्यमिव तत्तत्पार्थक्येनावस्थातुं न शक्नोति। एवञ्च सुषुप्तिदशायां बाह्यसाधनाभावादात्मनो बाह्यज्ञानं

न भवति किन्त्वानन्दानुभवरूपान्तरिकं ज्ञानं जायते। अत एव साङ्ख्यदर्शने 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपिता' इति सूत्रे महर्षिणा कपिलेन जीवात्मनो ब्रह्मरूपिता प्रतिपादिता। यथा प्रज्वलिताग्निप्रक्षिप्तमयोगोलकमग्निसाद्भवतीति तदानीं तत्राग्निगुणस्यौष्ण्यस्य पार्थिवगुणस्य भारादेरपि च वर्तमानत्वेऽपि अयोगोलकमग्निगोलकमुपचारेणोच्यते तथैव समाधिसुषुप्तिमोक्षदशासु ब्रह्मगुणानन्दयुक्ते जीवात्मनि स्वगुणाल्पज्ञत्वादिविशिष्टेऽपि ब्रह्मत्वमुपचर्यते।

समष्टिव्यष्टिरूपाज्ञानस्य, ईश्वरप्राज्ञरूपचैतन्यस्य चाभिन्नत्वम्—समष्टिव्यष्टिरूपाज्ञानद्वयस्य वनवृक्षवज्जलाशयनदीतडागादिगतजलवद्वैक्यमिति तदुपहितेश्वरप्राज्ञचैतन्यद्वयस्यापि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशवज्जलाशयनदीतडागादिप्रतिबिम्बिताकाशवद्वैक्यम्। अत एव माण्डूक्योपनिषदि, 'अयमात्मा एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्यामी'त्यादि चोच्यते। समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणेश्वरगतमूलाज्ञाने संस्कारमात्रावशिष्टप्राज्ञगताज्ञाने च भेदप्रतीतावपि यथा वस्तुगत्या भेदाभावस्तथैव समष्टिव्यष्ट्युपहितेश्वरप्राज्ञचैतन्येऽपि वस्तुगत्या भेदाभावः। समष्टिरूपाज्ञानोपहितं चैतन्यमीश्वरः, व्यष्टिरूपाज्ञानोपहितं च चैतन्यं प्राज्ञ इत्युच्यते। वस्तुगत्या सुवर्णतन्निर्मितकटककुण्डलवद्, मृत्पिण्डघटशराववद्वा कारणोपाधिविशिष्टेश्वरस्य कार्योपाधिविशिष्टप्राज्ञस्य चाभेदः। कार्यकारणभेदभावाभावे 'सोऽहम्' इति ब्रह्मज्ञानमात्रमवशिनष्टि। यथा चोक्तमनुभूतिप्रकाशे :—

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥ ८ ॥'

(अ. प्र. २०।६१)

इसके पहले यह कहा जा चुका है कि प्रलयकाल में ईश्वर एवं सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ दोनों ही आनन्द-प्राचुर्य होने के कारण स्वात्मानन्द अनुभव करते हैं किन्तु यह सन्देह होता है कि प्रलय तथा सुषुप्ति के समय न अन्तःकरण ही रहता है और न उसकी वृत्ति ही रहती है जो कि आनन्द को ग्रहण कर सके। इस कारण ईश्वर या प्राज्ञ किस प्रकार स्वात्मानन्द अनुभव कर सकते हैं? इसका समाधान 'तदानीम्' इत्यादि के द्वारा करते हैं अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति के समान चैतन्य प्रदीप्त अज्ञान की भी सूक्ष्म वृत्तियाँ होती हैं अतः अपनी-अपनी अस्पष्ट (सूक्ष्म) अज्ञानवृत्तियों के द्वारा ईश्वर एवं प्राज्ञ भी प्रलय तथा

सुषुप्ति अवस्था में स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं यही बात माण्डूक्योपनिषद् में भी कही गई है :—

'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः (चैतन्यदीप्ताज्ञानवृत्तिप्रधानः)।'

सुषुप्ति दशा में आनन्दानुभव होता है इसका दूसरा प्रमाण भी देते हैं—'सुखमहमस्वाप्सम्....' अर्थात् सोकर उठने के पश्चात् जीव कहता है 'मैं बड़े सुख से सोया' इससे स्पष्ट होता है कि उस दशा में उसे यद्यपि अन्य बातों का ज्ञान न था पर इस बात का ज्ञान था कि मैं सुखपूर्वक (आनन्द से) हूँ।

विशेष—ज्ञान, जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है। वह उससे उसी प्रकार अलग नहीं हो सकता जैसे अग्नि से उष्णता। अतः सुषुप्ति दशा में बाह्यसाधनों का अभाव होने के कारण यद्यपि आत्मा को बाह्यज्ञान नहीं होता पर आनन्दानुभव रूप आन्तरिक ज्ञान होता है। इसी कारण साङ्ख्यदर्शन के 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपिता' इस सूत्र में महर्षि कपिल ने यह स्पष्ट किया है कि इन तीनों दशाओं में आनन्दानुभव के कारण आत्मा ब्रह्मरूपिता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उस दशा में जीवात्मा भी ब्रह्म कहलाता है। ऐसी दशा में जीव को ब्रह्मरूपिता कैसे प्राप्त होती है यह निम्नलिखित उदाहरण से और अधिक स्पष्ट हो जायगा :—

लोहे के गोले को यदि भयानक अग्नि में डाल दें तो वह लाल हो जायगा। उस समय उसमें अग्नि का गुण उष्णता भी है और अपने पार्थिव गुण 'भार' इत्यादि भी हैं। इसी प्रकार समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष दशा में जीवात्मा में ब्रह्म का गुण 'आनन्द' आ जाता है पर अपने गुण 'अल्पज्ञत्वादि' भी रहते ही हैं। अतः ऐसी दशा में जीव को औपचारिक ब्रह्म (वास्तविक नहीं) कहते हैं। किन्तु इस प्रकार जीव को ब्रह्म कहना वैसे ही है जैसे तपे हुए गोले को, आग के गुण दाहकत्व-विशिष्ट होने के कारण, आग कहना। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रलय तथा सुषुप्ति दशा में ईश्वर तथा प्राज्ञ अपनी अज्ञान-वृत्तियों के द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं।

समष्टि-व्यष्टिरूप अज्ञान की तथा ईश्वर-प्राज्ञ की एकता—समष्टिरूप तथा व्यष्टिरूप उपर्युक्त दोनों प्रकार के अज्ञान उसी प्रकार एक हैं जैसे वन और

वृक्ष या जलाशय एवं नदी, तडागादि। उनसे उपहित ईश्वर एवं प्राज्ञ भी उसी प्रकार एक हैं जैसे वनगत आकाश एवं वृक्षगत आकाश अथवा जलाशय में प्रतिविम्बित आकाश या नदी, तडागादि में प्रतिविम्बित आकाश। इस कारण माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को 'एष सर्वेश्वरः' 'एष सर्वज्ञः' 'एषोऽन्तर्यामी' इत्यादि कहा गया है अर्थात् समष्टि और व्यष्टि अभिप्राय से ईश्वरगत मूल अज्ञान एवं प्राज्ञगत अज्ञान में यद्यपि भेद प्रतीत होता है पर वास्तविक भेद कोई नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त समष्टि–व्यष्टिरूप अज्ञानोपहित ईश्वर और प्राज्ञ में भी वास्तविक कोई भेद नहीं समष्टिरूपाज्ञानोपहित चैतन्य की ईश्वर संज्ञा है एवं व्यष्टिरूपाज्ञानोपहित चैतन्य की प्राज्ञ संज्ञा है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि जिस प्रकार सुवर्ण पिण्ड कारण और उससे बने हुए कटक-कुण्डलादि कार्य हैं उसी प्रकार कारणोपाधिविशिष्ट की ईश्वर एवं कार्योपाधिविशिष्ट की प्राज्ञ (जीव) संज्ञा है पर वास्तव में स्वर्ण तथा उससे बने हुए कटक-कुण्डलादि की तरह दोनों अभिन्न हैं और जब कार्य-कारणरूप भेदभाव दूर हो जाता है तो 'सोऽहम्' यह ब्रह्मज्ञानरूप पूर्ण बोधमात्र अवशिष्ट रह जाता है। अनुभूति-प्रकाश में यही बात निम्नाङ्कितरूप से कही गई है :—

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥ ८ ॥' (अ. प्र. १०।६१)

तुरीयचैतन्यम्

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽऽधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते ॥ ६ ॥

तुरीयचैतन्यम्—पूर्वोक्तप्रकारेणोपाध्यवच्छिन्नेश्वरप्राज्ञौ निरूप्येदानीं वनवृक्षेत्यादिनाऽनवच्छिन्नचैतन्यं निरूपयति। वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयतडागादितद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वा आधारभूतो यथा महाकाशस्तथैवेश्वरप्राज्ञयोर-

प्याधारभूतमनुपहितं सर्वव्यापि यद्विशुद्धचैतन्यं तत्तुरीयमुच्यते, एतदेव 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' तथा—'त्रिपु धामसु यद्भोग्यमि'त्यादिना …'श्रुतिभिरपि प्रतिपादितम्। एतदेव विशुद्धचैतन्यं पूर्वोक्ताज्ञानादितदुपहितचैतन्येश्वरप्राज्ञचैतन्यद्वयेन सहाभेदविवक्षायां 'तत्त्वमसी'त्यस्य वाच्यार्थत्वं भेदविवक्षायाञ्च लक्ष्यार्थत्वं भजते। चैतन्यरूपेण त्रयाणां चैतन्यानां यद्यप्येकत्वमेव तथापि अज्ञानानवच्छिन्नत्वेन वाच्यत्वं तदवच्छिन्नत्वेन च लक्ष्यत्वमुपपद्यते। अनयोरज्ञानोपहितचैतन्येश्वरप्राज्ञयोर्विशुद्धचैतन्येन सह तथैवैक्यभिन्नत्वव्यपदिष्टिर्यथाऽग्निप्रक्षिप्तायोगोलके सत्यपि भारादिपार्थिवांशेऽग्निगुणदाहकताशक्तिसम्पन्नतयाऽग्निगोलकव्यवहृतिस्तथा तेन दाहे सञ्जाते सत्ययो दहतीति व्यवहारः ॥ ९ ॥

तुरीय (विशुद्ध) चैतन्य—जिस प्रकार वन में वर्तमान आकाश तथा वृक्ष में वर्तमान आकाश एवं जलाशयगत आकाशप्रतिविम्ब तथा नदी-तडागादिगत आकाशप्रतिविम्ब का आधारभूत महाकाश है उसी प्रकार ईश्वर चैतन्य तथा प्राज्ञ चैतन्य का आधारभूत उपाधिरहित सर्वव्यापी विशुद्ध चैतन्य है उसे 'तुरीय'[1] (चतुर्थ) कहते हैं। यही बात 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' तथा—

'त्रिपु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः ॥'

इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट की गई है। अज्ञानोपहित पूर्वोक्त ईश्वर तथा प्राज्ञ चैतन्य एवं इस विशुद्धचैतन्य की एकता ही 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का वाच्यार्थ है और प्राज्ञेश्वर चैतन्य की अपेक्षा विशुद्ध चैतन्य की भिन्नता उसका लक्ष्यार्थ है। इन अज्ञानोपहित चैतन्य (प्राज्ञेश्वर चैतन्य) और विशुद्ध चैतन्य में एकता तथा भिन्नता का व्यवहार उसी प्रकार होता है जैसे आग में पड़ कर अत्यन्त लाल हो गये लोहे के गोले में भारादि पार्थिवांश के रहते हुए भी अग्नि के गुण दाहकताशक्ति-सम्पन्न होने के कारण उसे आग का गोला कहते हैं तथा उससे जल जाने पर 'अयो दहति' (लोहे का गोला जलाता है) यह व्यवहार करते हैं॥९॥

---

१. अविद्या, ईश्वर एवं प्राज्ञ से चौथा होने के कारण इसे तुरीय कहते हैं। किसी-किसी का मत है कि यह विश्व, तैजस और प्राज्ञ से चौथा होने के कारण तुरीय कहलाता है।

अज्ञानस्यावरणविक्षेपशक्तिद्वयी

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायततमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा' इति॥

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।

विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चादिमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदि'ति॥ १०॥

नन्वात्मन; स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपत्वे कथं तत्र स्वविषयकाज्ञानम्? कथं वा संसारासक्त्याद्युदासीनस्य तस्याकाशादिप्रपञ्चजनकत्वमित्यत आह—अस्येति। तत्रावरणविक्षेपनामकशक्तिद्वये आवरणशक्तिमादौ निरूपयति—आवरणेति।

आवरणशक्तिः—स्वशक्त्या प्रमातुर्दृष्टिमवष्टभ्य सच्चिदानन्दस्वरूपपिधायिका शक्तिरावरणशक्तिः। यथा स्वल्पोऽपि पयोदखण्डः समक्षमागत्यानेकयोजनमायतमप्यादित्यमण्डलमवलोकयितृनेत्रपथतोऽवरुणद्धि तथैवाज्ञानस्य परिच्छिन्नत्वेऽपि स्वावरणशक्त्या तत्प्रमातृबुद्धिमावृत्यापरिच्छिन्नमसंसारिणमात्मानं तद्दृष्टेरवरुणद्धि। वस्तुगत्या स आत्मा नित्योपलब्धिस्वरूप इति न केनापि कदापि कथमपि पिधातुं शक्यो नापि च सांसारिकबन्धनैर्बद्धुं शक्यः। केवलं मूर्खबुद्ध्यैव स तथा प्रतीयते। हस्तामलके—'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कम्…' इत्यादिना अयमेव भावः स्पष्टीकृतः।

अज्ञानस्यानयैवावरणशक्त्या युक्त आत्मा सांसारिकविषयेषु कर्तृत्वभोक्तृत्व-

सुखित्वदुःखित्वादिकं च भजते किन्त्वैतत्सर्वं रज्जावहिविभावनमिव मिथ्या । वस्तुगत्या नामरूपात्मकमखिलं जगद् ब्रह्मैव संसारबुद्धिश्च तदज्ञाननिबन्धनैवेति बोध्यम्।

विक्षेपशक्तिः—ब्रह्मणः प्रभृति स्थावरपर्यन्तस्याखिलनामरूपात्मकजगतः समुत्पादिका शक्तिर्विक्षेपशक्तिः । यथा रज्जुविषयकमज्ञानं स्वशक्त्याऽज्ञानावृतरज्जावहिं विभावयति तथैवात्मविषयकज्ञानमात्मशक्त्याऽज्ञानावृतात्मनि विक्षेपशक्त्या सूक्ष्मशरीरादारभ्य ब्रह्माण्डपर्यन्तमाकाशादिप्रपंचमुद्भावयति । दृग्दृश्यविवेकेऽज्ञानशक्तिद्वय्येषा—'शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिकारणम्'—इत्यादिना निर्दिष्टा ॥ १० ॥

अज्ञान की दो शक्तियाँ—[यदि आत्मा स्वयंप्रकाश एवं चैतन्यस्वरूप है तो वह अपने स्वरूप को क्यों नहीं पहचान पाता ? वह आत्मा निरीह एवं असङ्गोदासीन है तो फिर इस आकाशादि प्रपंच को क्यों रचता है ? इन दोनों शङ्काओं का समाधान करने के लिये यहाँ अज्ञान (अविद्या, माया) की शक्तियों का निरूपण किया जाता है]

इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—(१) आवरण शक्ति (२) विक्षेप शक्ति।

आवरणशक्ति—प्रमाता की दृष्टि के आगे पर्दा डाल कर सच्चिदानन्दस्वरूप को ढक देनेवाली शक्ति को आवरणशक्ति कहते हैं। जिस प्रकार एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा आँख के सामने आकर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को भी दर्शक की आँखों के आगे से ढक लेता है और वह उसे दिखलाई नहीं देता उसी प्रकार अज्ञान यद्यपि परिच्छिन्न है तथापि उसमें ऐसी शक्ति है कि वह प्रमाता की बुद्धि के आगे अपना पर्दा डाल कर अपरिच्छिन्न एवं असंसारी आत्मा को उसकी दृष्टि से ढक लेता है। वास्तव में आत्मा नित्योपलब्धि स्वरूप है—किसी से कभी छिप नहीं सकता और न कभी सांसारिक बन्धनों में बँध सकता है किन्तु मूर्ख व्यक्ति उसको बँधा हुआ समझता है। यही भाव 'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कम्''''इत्यादि श्लोक के द्वारा 'हस्तामलक' में अभिव्यक्त किया गया है। अविद्या की इसी शक्ति (आवरण शक्ति) से युक्त आत्मा अपने आपको सांसारिक विषयों का कर्त्ता, भोक्ता एवं सुखी, दुःखी आदि समझता है परन्तु यह सब रस्सी में सर्पाभास की तरह मिथ्या है। वास्तव में यह नाम-रूपात्मक सब जगत् ब्रह्म ही है फिर भी

उसका वास्तविक ज्ञान न होने के कारण इसमें अज्ञानी व्यक्तियों की सांसारिक बुद्धि रहती है।

विक्षेपशक्ति—ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक जगत् को पैदा करनेवाली शक्ति को विक्षेपशक्ति कहते हैं। जिस प्रकार रज्जुविषयक अज्ञान अपनी शक्ति से अज्ञानावृत्त रस्सी में सर्पत्व की भावना उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आत्मविषयक अज्ञान अपने सामर्थ्य से अज्ञानावृत आत्मा में विक्षेप शक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त आकाशादि प्रपञ्च की उद्भावना कर देता है। 'दृग्दृश्यविवेक' में पूर्वोक्त दोनों शक्तियों का निर्देश इस प्रकार किया गया है :—

'शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्। विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः। आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥'

आत्मनः संसारकारणत्वम्

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति॥ ११॥

नन्वात्मा संसारस्य निमित्तं कारणमाहोस्विदुपादानम्? निमित्तकारणत्वे तत्सृष्ट्वा 'तदेवानुप्राविशत्' इति तैत्तिरीयोक्तं तस्य कार्यव्यापित्वं न स्यात्—निमित्तस्य दण्डादेः स्वकार्यघटादिव्यापित्वाभावदर्शनात्।

नित्यचैतन्यस्य परमात्मनः उपादानकारणत्वे तु 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति नियमेन सांसारिकजडप्रपञ्चस्यापि नित्यत्वं चेतनत्वञ्चापद्येतेत्युभयोर्न कतरदपि सम्भवतीत्यत आह—शक्तिद्वयवदिति। एक एव चेतनात्मा संसारस्य निमित्तमुपादानञ्चोभयं कारणमिति भावः। तदेवोर्णनाभिदृष्टान्तेन स्पष्टीक्रियते—यथा लूता (ऊर्णनाभिः) स्वतन्तुरूपकार्यं प्रति चैतन्यप्रधानतया निमित्तकारणम्, स्वशरीरप्रधानतया चोपादानकारणम् एवमज्ञानोपहितात्मा चैतन्यप्रधानतया सांसारिकप्रपञ्चस्य निमित्तं कारणम् अज्ञानप्रधानतया चोपादानकारणम्। निश्चेतनलूतातनुस्तन्तुं जालं वा निष्पादयितुं न शक्नोति। तत्तन्वभावे च केवलेन चैतन्यांशेनापि तन्तुजालयोरन्यतरदुत्पादयितुं न शक्यतेऽतस्तन्तुजालरूपकार्यं प्रति लूतायास्तनुचैतन्ययोरुभयोः कारणत्वेऽपि चैतन्यप्राधान्येन तनोर्निमित्तत्वम्—

चैतन्याभावे केवलया तन्वा तन्तुजालनिष्पादनासम्भवात्। तनुप्राधान्ये च तस्याः साक्षात्सम्बन्धितयोपादानत्वम्। एवं शरीरनिष्ठस्यात्मनोऽपि परम्परया तन्तोर्जालस्य चोपादानत्वम्। अनयैव रीत्या ईश्वरः चैतन्यप्राधान्येन चराचरजगतो निमित्तकारणम्, अज्ञानप्राधान्येन चोपादानकारणम्। यतो हि जगदज्ञान-(माया) जन्यम्। अज्ञानं (माया) च संसारस्योपादानकारणम्। अज्ञानञ्चात्मनिष्ठमिति मायाविन ईश्वरस्यापि परम्परया जगदुपादानत्वं न विरुध्यते। यथा लूता जालं तन्तुं वा तूलतुरीवेमादिबाह्यसाधनान्यनपेक्ष्यैव निर्मातुं शक्नोति तथैवेश्वरोऽपि सृष्टेरादावेको निःसहायोऽद्वितीयोऽपि स्वमायया सूक्ष्मशरीरादारभ्याब्रह्माण्डान्तं स्थूलजगदुत्पादयति। एतदेव मुण्डकोपनिषदि 'यथोर्णनाभिरि'त्यादिना प्रतिपादितम्।

एवमीश्वरस्य जगतो निमित्तत्वेऽपि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादिश्रुतीनामुपादानपरकत्वेनाविरोधः तथात्वे च श्रुतेः परिणामपरकत्वेन (नापि विवर्तपरकत्वेन) जगतो नित्यत्वं चेतनत्वञ्च वार्यत इति सर्वमनवद्यम्। इदमत्रावधेयम्—इदं चराचरं जगद् ब्रह्मणो विवर्तो न परिणामः। अतोऽस्य प्रधानकारणाज्ञानापेक्षया (मायापेक्षया) परम्परया सम्बद्धस्य ब्रह्मणः उपादानत्वेऽपि नास्मिंस्तद्गुणचैतन्यनित्यत्वादिसम्भवः, स्वस्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरप्रदर्शकत्वस्यैव हि विवर्तकत्वात्; चैतन्यनिष्ठरज्जुविषयकाज्ञानस्य रज्जुस्वरूपापरित्यागेन सर्पस्वरूपान्तरप्रदर्शनवत्। इत्थं चैवमेवेश्वरचैतन्यनिष्ठाज्ञानशक्तेरपि चैतन्यस्वरूपपरित्यागेनाकाशादिस्वरूपान्तराकारेणास्य जगतः प्रदर्शकत्वादस्य प्रपञ्चस्य नित्यत्वं न सम्भवति। अज्ञानस्य स्वतो मिथ्यात्वेन तज्जन्याकाशादेरपि मिथ्यात्वात्॥ ११॥

[एतावता ग्रन्थेनाज्ञानस्यावरणशक्तिकृत्यरूपं चैतन्यस्य जगतः कारणत्वं, जगतश्च चैतन्यकार्यत्वं निरूप्याधुना तदज्ञानविक्षेपशक्तिकृत्यरूपतज्जगद्रूपिकार्योत्पत्तिप्रकारो निर्दिश्यते]

आत्मा संसार का निमित्त कारण है या उपादान ? यदि निमित्त कारण माना जायगा तो ठीक नहीं क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस तैत्तिरीय उपनिषत् के वाक्य से पता चलता है कि वह आत्मा अपने कार्य में भी व्याप्त है किन्तु कार्य में निमित्तकारण व्याप्त नहीं होता अन्यथा दण्ड भी घटव्यापी मानना पड़ेगा। अतः आत्मा संसार का निमित्त कारण नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि उपादान कारण है, तो वह भी ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि यदि चेतन आत्मा संसार का उपादान कारण माना जायगा तो 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इस नियम से कारण के गुण कार्य में भी होने के कारण यह सांसारिक जड-प्रपञ्च भी चेतन तथा नित्य हो जायगा—तब इसे नश्वर नहीं कह सकते। इस शंका को 'शक्तिद्वयवत्' इत्यादि के द्वारा दूर करते हैं अर्थात् एक ही चेतन आत्मा संसार का निमित्तकारण तथा उपादानकारण दोनों है। इस वात को मकड़ी के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं:—

जिस प्रकार एक ही मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति चैतन्यप्रधानता के कारण निमित्तकारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान-कारण भी है उसी प्रकार अज्ञानोपहित आत्मा चैतन्यप्रधानता के कारण सांसारिक प्रपञ्च का निमित्तकारण है तथा अज्ञानप्रधानता के कारण उपादान-कारण है।

यदि मकड़ी में चेतनता न हो तो केवल शरीर से तन्तु या जाल नहीं वन सकता और यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्यांश से भी तन्तु या जाल नहीं वन सकता। इस कारण तन्तु या जालरूपी कार्य में मकड़ी के चैतन्यांश एवं शरीर दोनों कारण हैं। अन्तर यही है कि चैतन्यप्रधानता के कारण शरीर निमित्तकारण है—यदि चेतनता न हो तो जड देह से तन्तु या जाल नहीं वन सकता और शरीरप्रधानता के कारण वही मकड़ी उपादान कारण भी है क्योंकि शरीर का साक्षात् सम्बन्ध है। इस प्रकार शरीरनिष्ठ आत्मा भी तन्तु या जाल का उपादानकारण है। इसी प्रकार ईश्वर भी अपनी चैतन्यप्रधानता के कारण चराचर जगत् का निमित्त कारण है और अज्ञानप्रधानता के कारण उपादानकारण है क्योंकि जगत् अज्ञान (माया) जन्य है—माया संसार का उपादानकारण है और अज्ञान (माया) आत्मनिष्ठ है अतः मायावी ईश्वर को परम्परया जगत् का उपादानकारण कहने में कोई वाधा नहीं। जिस प्रकार मकड़ी अपने तन्तु एवं जाल को कपास तथा तुरी–वेमादि वाह्य–साधनों के विना भी तयार कर लेती है उसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि के पहले एक ही, अद्वितीय, निःसहाय विना किसी वाह्यसाधन के भी अपनी मायाशक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त स्थूल जगत् की रचना कर डालता है।

यही बात मुण्डक उपनिषद् में निम्नलिखित रूप से कही गई है :—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥'

अब कदाचित् यह सन्देह हो कि यदि ईश्वर संसार का निमित्तकारण है तो उसको कार्यव्यापिता न होने के कारण 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह श्रुति कैसे चरितार्थ होगी तो इसका उत्तर यह है कि यह श्रुति उपादानकारण-विषयक है अर्थात् उपादान-कारणरूप से आत्मा सब में प्रविष्ट है, किन्तु यदि फिर भी यह शंका हो कि यदि ईश्वर उपादानकारणरूप से सब में व्याप्त है तो यह चराचर जगत् जड़ एवं नश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि इसका उपादान चेतन तथा अविनाशी है तो इसका समाधान यह है कि पूर्वोक्त श्रुति परिणामविषयक है—विवर्तविषयक नहीं अर्थात् जो जिसका परिणाम होता है (जैसे दही दूध का परिणाम है) उसमें उपादान कारण के गुण अवश्य रहते हैं किन्तु जो जिसका विवर्त होता है (जैसे रस्सी में सर्प का भान) उसमें उस कारण के गुण नहीं रह सकते। यह चराचर जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। अतः इसके प्रधान कारण अज्ञान (माया) की अपेक्षा परम्परया सम्बन्धित ब्रह्म के उपादान-कारण होने पर भी इसमें ब्रह्म के गुण चेतनता एवं नित्यता नहीं रह सकते। विवर्त का लक्षण ही यह है कि जो अपने रूप का भी परित्याग न करे और दूसरे रूप को भी प्रदर्शित करे वह विवर्त है। जैसे चैतन्यनिष्ठ रस्सी-विषयक अज्ञान रस्सी के रूप का परित्याग न करता हुआ सर्परूपी दूसरे रूप को भी प्रदर्शित करता है उसी प्रकार ईश्वरचैतन्यनिष्ठ अज्ञानशक्ति भी चैतन्यस्वरूप का परित्याग न करती हुई आकाशादि दूसरे रूपों को भी प्रदर्शित करती है। अतः आकाशादि प्रपञ्च नित्य नहीं हो सकता। क्योंकि अज्ञान स्वतः मिथ्या है। इस कारण तज्जन्य प्रपञ्च भी मिथ्या है ॥ ११ ॥

[यहां तक अज्ञान की आवरण शक्ति का काम बतलाया गया अर्थात् यह निरूपण किया गया कि चैतन्य ही जगत् का कारण है, जगत् उसका कार्य है, अब आगे विक्षेपशक्ति का काम (जगत्रूपी कार्य की उत्पत्ति) बतलाया जायगा]।

सृष्टिक्रमः

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते ॥ १२ ॥

तमोगुणप्रधानात् किन्तु यत्किंचिद्रजःसत्त्वसत्तासम्पन्नाद्. विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेर्जलम्, जलात्पृथिवी चोत्पद्यते। आकाशादेर्जडत्वात्तमोगुणप्रधानविक्षेपशक्तिसम्पन्नज्ञानोपहितचैतन्यस्यैवाकाशादिप्रपञ्चजनकत्वं युक्तम्—'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति नियमात्; तथा च श्रुतिः—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।' एवेन 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति श्रुत्याऽज्ञानस्य (मायायाः) गुणत्रययुक्तत्वेऽपि तमोगुणप्राधान्यादेव कथमाकाशाद्युत्पत्तिरिति शङ्काप्यपास्ता। एवमाकाशाद्युत्पत्त्यनन्तरं स्वकारणगुणानुरूपमुत्तरोत्तरं तेष्वाकाशादिषु सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानामुत्पत्तिः। एतान्येवापञ्चीकृतसूक्ष्मरूपपञ्चभूतानि तथा क्रमशः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रा उच्यन्ते। एभ्य एव सूक्ष्मभूतेभ्यः (अपञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः) अपञ्चीकृतसूक्ष्मशरीराणि तथा पञ्चीकृतस्थूलभूतेभ्यः स्थूलशरीराणि चोत्पद्यन्ते ॥१२॥

पञ्चमहाभूतोत्पत्तिः—तमोगुण प्रधान किन्तु रज और सत् की भी यत्किञ्चित् सत्ता से युक्त विक्षेपशक्ति-सम्पन्न अज्ञानोपहित चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। निम्नलिखित श्रुति इसमें प्रमाण है :—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः'।

यहाँ यद्यपि यह शंका हो सकती है कि 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' से यह प्रमाणित होता है कि अज्ञान (माया) तीनों गुणों से युक्त है अतः आकाशादि की उत्पत्ति तमोगुण की ही प्रधानता से हुई यह कैसे निश्चित हो सकता है परन्तु इसका समाधान यह है कि आकाशादि कार्य जड है इसलिये कारण-गुण-न्याय से

तमोगुण-प्रधान विक्षेपशक्ति युक्त ही चेतन को आकाशादि प्रपञ्च कारण मानना ठीक है। आकाशादि की उत्पत्ति होने पर अपने-अपने कारण गुण के अनुरूप उत्तरोत्तर उन आकाशादि में सत्, रज, तम तीनों ही गुण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी को अपञ्चीकृत सूक्ष्मरूप पञ्चभूत तथा क्रमशः शब्दतन्मात्रा. स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा कहते हैं। इन्हीं सूक्ष्मभूतों (अपञ्चीकृत पञ्चभूतों—पञ्चतन्मात्राओं) से अपञ्चीकृत सूक्ष्म शरीर तथा पञ्चीकृत स्थूलभूतों से स्थूलशरीर उत्पन्न होते हैं॥ १२॥

सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्। इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति। कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः। केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति

केचित्। एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्। एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते ॥ १३ ॥

सूक्ष्मशरीराणां सप्तदश अवयवाः। इमान्येव सूक्ष्मशरीराणि लिङ्गशरीराण्युच्यन्ते—लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि, लिङ्गानि च तानि शरीराणि इति लिङ्गशरीराणि इति व्युत्पत्तेः। 'सप्तदशः प्रजापतिः' इत्यत्र शतपथब्राह्मणे 'मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथितं हि लिङ्गम्' इत्यत्र सङ्क्षिप्तशारीरकभाष्ये चापि सूक्ष्मशरीरस्य सप्तदशावयवत्वप्रतिपादनात्। तानि च सूक्ष्मशरीराणि—'पञ्चप्राणमनोबुद्धिः-'इत्यादीनि। तेषु च प्राणपञ्चकज्ञानकर्मोभयेन्द्रियदशकबुद्धिमनसामाकाशादिसात्त्विकांशेभ्यः क्रमशः पृथक् पृथगुत्पत्तिः। आकाशीयसात्त्विकांशात् श्रोत्रस्य, वायवीयसात्त्विकांशात् त्वचः, तैजससात्त्विकांशात् चक्षुषः, जलीयसात्त्विकांशाद्रसनायाः, पार्थिवसात्त्विकांशाद् घ्राणस्य चोत्पत्तिरिति भावः।

तत्र 'अहं ब्रह्मैवास्मि', 'इदमित्थमे'वंनिश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिर्बुद्धिः। इदमित्थं न वा। (अहं चेतनस्वरूपं शरीरं वा) इति संशयात्मिकान्तःकरणवृत्तिर्मनः। स्मरणात्मकचित्तस्य बुद्धौ गर्वात्मकाहंकारस्य च मनस्येवान्तर्भाव इति न पार्थक्येन तयोर्लक्षणमुक्तम्। मनोबुद्धिचित्ताहंकाराणां चतुर्णामेकं मिलितमन्तःकरणं नाम। तस्यैकत्वेऽपि संशयनिश्चयस्मरणगर्वरूपविभिन्नकार्यपरतया भिन्नकार्यपरत्वेन पाठकपाचकयाचकवद् व्यवहारः। एतानि च सर्वाणि व्योमादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यः समुत्पद्यन्ते। तत्र मनोबुद्धिचित्ताहंकाराः प्रकाशात्मकाः एतदेवैतेषां महाभूतसात्त्विकांशकार्यत्वे प्रमाणम्।

ज्ञानेन्द्रियसहितबुद्धिर्विज्ञानमयः कोशः उच्यते तद्युक्तं चैतन्यं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेन स्वर्गादिलोकगामि भवति। व्यावहारिकदशायाञ्चैतदेव विज्ञानमयकोशयुक्तं चैतन्यं जीवसंज्ञां लभते।

सत्त्वगुणांशोत्पन्नत्वेन सत्त्वगुणप्रधानं, चक्षुःश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियसहितञ्च मनो

मनोमयकोशः कथ्यते। मनसः सत्त्वगुणांशकार्यत्वेऽपि रजोविकारेच्छारूपित्वेन संकल्पविकल्पात्मकत्वाद् बुद्ध्यपेक्षयाऽधिकजडत्वाच्चास्मिन्नेष व्यवहारः। बुद्धेश्च निश्चयान्तःकरणवृत्तित्वेन तत्र सङ्कल्पविकल्पाभावात्। आत्मनश्च कोशवदाच्छादकत्वादस्मिन् कोशत्वव्यवहारः।

वागादिकर्मेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिरजोगुणांशेभ्यः क्रमशः पार्थक्येनोत्पद्यते। आकाशादिषु सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानां वर्तमानत्वेऽपि वागादिष्वाकाशादिरजोंऽशाधिक्यमिति रजोगुणप्रधानाकाशाद् वागिन्द्रियम्, रजोगुणप्रधानवायोः पाणीन्द्रियम्, रजोगुणप्रधानाग्नेः पादेन्द्रियम् तथा रजोगुणप्रधानजलान्मलविसर्जनेन्द्रियम् एवं रजोगुणप्रधानपृथिव्या मूत्रविसर्जनेन्द्रियञ्चोत्पद्यते।

प्राणादयः पञ्च वायवः। साङ्ख्यमते नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्या अपरेऽपि पञ्च वायवः; तेषु च—

'उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकलः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः॥'

किन्तु वेदान्तिन इमान् सर्वान् प्राणादिष्वेवान्तर्भावयन्ति।

अस्य प्राणपञ्चकस्योत्पत्ती रजोगुणप्रधानाकाशादिमिलितांशेभ्यो भवति। कर्मेन्द्रियसहितं तत्प्राणपञ्चकं प्राणमयकोशः कथ्यते। एतच्च क्रियात्मकमित्यस्य रजोगुणांशकार्यत्वम्। पूर्वोक्तविज्ञानमय–मनोमय–प्राणमयकोशेषु विज्ञानमयः कोशो ज्ञानशक्तिसम्पन्न इति कर्त्ता कथ्यते। मनोमयः कोश इच्छाशक्तिसम्पन्न इति विवेकसाधकत्वेन करणमुच्यते। प्राणमयकोशश्च गमनादिक्रियासम्पन्न इति कार्यमुच्यते। ज्ञानेन्द्रियसहितो बुद्धिरूपकर्ता मनोज्ञानेन्द्रियरूपकरणसाहाय्येन प्राणादिपञ्चकद्वारा कर्मेन्द्रियपञ्चकद्वारा च गमनादिकार्यं कारयतीति तत्त्वम्। तत्तत्कार्यक्षमतानुसारेणैवैते स्वकार्ययोग्यतानुसारं कर्तृ–करण–कार्यनामभाजः। मिलित्वैतत्त्रयं सूक्ष्मशरीरमुच्यते॥ १३॥

सूक्ष्मशरीरों के सत्रह अवयव होते हैं। इन्हीं को लिंग शरीर भी कहते हैं (लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भावः एभिरिति लिङ्गानि; लिङ्गानि च तानि शरीराणि इति लिङ्गशरीराणि) 'सप्तदशः प्रजापतिः' (श० ब्रा०) तथा 'मुख्यं तु

सप्तदशकं प्रथितं हि लिङ्गम्' (संक्षिप्त शा०•भा०) में भी सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव वतलाये गये हैं, वे सत्रह अवयव निम्नलिखित हैं :—

'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥'

अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाणी, पैर, हाथ, पायु (मलत्यागेन्द्रिय), उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्च प्राण, वुद्धि एवं मन ये सव आकाशादिकों के सात्त्विक अंशों से क्रमशः अलग-अलग पैदा होते हैं—आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र, वायु के सात्त्विक अंश से त्वक्, तेज के सात्त्विक अंश से चक्षु, जल के सात्त्विक अंश से जिह्वा और पृथ्वी के सात्त्विक अंश से घ्राण की उत्पत्ति होती है।

'मैं ब्रह्म हूँ' अथवा यह 'वात बिल्कुल ऐसी ही है' इस प्रकार निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। 'यह वात ऐसी है अथवा नहीं' (मैं चेतनस्वरूप हूँ या देह हूँ) इस प्रकार संशय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति का नाम मन है। स्मरणात्मक चित्त का अन्तर्भाव बुद्धि में और गर्वात्मक अहङ्कार का अन्तर्भाव मन में ही हो जाने के कारण इनके अलग लक्षण नहीं दिये गये। मन, वुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों का नाम अन्तःकरण है। यद्यपि वह एक है तथापि एक ही व्यक्ति के जैसे अलग-अलग काम करने पर अलग-अलग नाम हो जाते हैं उसी प्रकार इन चारों के अलग-अलग काम होने के कारण एक ही अन्तःकरण के भिन्न-भिन्न चार नाम हैं; अर्थात् जैसे 'राम' यदि पढ़ाने लगे तो पाठक, यदि रसोई बनाने लगे तो पाचक और यदि माँगने लगे तो उसी का नाम याचक हो जाता है, उसी प्रकार एक ही अन्तःकरण संशयात्मकदशा में मन, निश्चयात्मकदशा में वुद्धि, स्मरणात्मकदशा में चित्त एवं गर्वात्मकदशा में अहंकार के नाम से व्यवहृत होता है। वास्तव में ये चारों भिन्न-भिन्न वृत्तियों के अनुसार एक ही (अन्तःकरण) के नामान्तर हैं। ये सव आकाशादिगत सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं—इनमें आकाशादि सभी के सात्त्विक अंश मिले रहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चारों प्रकाशात्मक हैं यही इस वात का प्रमाण है कि इनकी उत्पत्ति महाभूतों के सात्त्विक अंशों से होती है।

ज्ञानेन्द्रियों के समेत बुद्धि को विज्ञानमयकोश कहते हैं। इसी विज्ञानमय-

कोश से युक्त चैतन्य अपने आप को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी एवं दुःखी समझता है। इसी कारण इसको स्वर्गादिलोक प्राप्त होते हैं। व्यावहारिक दशा में इसी विज्ञानमय कोशयुक्त चैतन्य को जीव कहते हैं।

सत्त्व गुणांशों से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वगुणप्रधान मन, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों के सहित मनोमयकोश कहलाता है। इसका यह नाम इस कारण है कि मन सत्त्वगुणांशों से उत्पन्न होता है किन्तु रजोविकार जो इच्छा तद्रूपी होने के कारण सङ्कल्पविकल्पात्मक है अतः बुद्धि की अपेक्षा अधिक जड़ है क्योंकि बुद्धि निश्चयात्मिकान्तःकरण वृत्ति का नाम है उसमें संकल्प-विकल्प नहीं। कोश इस कारण कहलाता है कि आत्मा का आच्छादक है। जिह्वा, हाथ, पैर तथा मल-मूत्रस्थान ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये सब आकाशादिकों के रजोगुणांशों से क्रमशः पृथक्-पृथक् उत्पन्न होती हैं, अर्थात् यद्यपि आकाशादि में तीनों गुण (सत्, रज, तम) वर्तमान हैं तथापि वागादिकों में आकाशादि के रजोंऽश का आधिक्य है क्योंकि रजोगुण-प्रधान आकाशादि से वागिन्द्रिय, रजोगुण प्रधानवायु से पाणीन्द्रिय एवं रजोगुण-प्रधान अग्नि से पादेन्द्रिय तथा रजोगुण–प्रधान जल से मलविसर्जन की इन्द्रिय और रजोगुण-प्रधान पृथ्वी से मूत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच वायु हैं। साङ्ख्य के मत से नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय ये भी अन्य पाँच वायु हैं जिनमें से—

'उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकलः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः॥'

किन्तु वेदान्ती लोग इन सबका प्राण इत्यादिकों में ही अन्तर्भाव मानते हैं। इन पाँचों प्राणादिकों की उत्पत्ति रजोगुण प्रधान आकाशादिकों के मिलितांशों से होती है। कर्मेन्द्रियों के सहित इन्हीं पाँचों प्राणादिकों को प्राणमय कोश कहते हैं। यह क्रियात्मक है अतः इसकी उत्पत्ति का हेतु रजोगुणांश माना गया है (यह कार्य है, रजोगुणांश कारण है)। पूर्वोक्त इन तीनों कोशों (विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय) में से विज्ञानमयकोश ज्ञानशक्ति से युक्त है अतः कर्ता कहलाता है। मनोमय कोश इच्छा-शक्तिसम्पन्न है अतः विवेक का साधक (करण) कहलाता है तथा प्राणमय कोश गमनादि-क्रिया-सम्पन्न है अतः कार्यस्वरूप है

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के समेत बुद्धिरूपकर्त्ता मन एवं ज्ञानेन्द्रिय कारण की सहायता से प्राणादि पञ्चक तथा कर्मेन्द्रियों से गमनादि कार्यं करवाता है। इन तीनों में अलग-अलग इन तीनों बातों की योग्यता है अतः अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ही इनका कर्त्ता, करण तथा कार्यं इन नामों से विभाग किया गया है। ये तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं ॥ १३ ॥

सूक्ष्मप्रपञ्चनिरूपणम्

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं, जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते। एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः ॥ १४ ॥

अत्रापि अखिलचराचरानन्तसूक्ष्मशरीराणामेकत्वविवक्षायामेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिः। पार्थक्येन चानेकजीवानां प्रत्येकं स्वस्वसूक्ष्मशरीरस्य स्वस्वबुद्धिविषयतया वृक्षवन्नद्यादिवद्वा व्यष्टिः। एतत्सूक्ष्मशरीरसमष्ट्युपहितं चैतन्यं स्रक्सूत्रमिव सर्वत्रानुस्यूतत्वात्पूर्वोक्तज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चोच्यते। अस्य सूत्रात्मकहिरण्यगर्भस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादिकोशत्रयं तथा विराड्रूपेणानुभूतस्थूलप्रपञ्चविषयकवासनामयत्वात्स्वप्नः, अत एव (सूक्ष्मत्वात्स्वप्नत्वाच्च) स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमित्युच्यते।

एतत्सूक्ष्मशरीरव्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात् तैजस उच्यते अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादिकोशत्रयं तथा विश्वचैतन्येनानुभूतस्थूलशरीरविषयकवासनामयत्वात्स्वप्नः, अतएव (सूक्ष्मत्वात्स्वप्नत्वाच्च) स्थूलप्रपञ्चलयस्थानञ्चोच्यते ।

तदानीमर्थात् स्वप्नकाले एतौ सूत्रात्मतैजसौ सूक्ष्माभिर्मनोवृत्तिभिर्वासनामयान् सूक्ष्मशब्दादिविषयान् सुषुप्तिकाले सूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरीश्वरप्राज्ञावानन्दमिवानुभवतः । तथा च श्रुतिः—'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः......' इत्यादि (स्वप्नावस्थायां वाह्यविषयासम्वद्धस्य, अग्निसूर्यचन्द्रवायुवेददिगाकाशपृथ्वीत्येतत्सप्ताङ्गस्य, ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैतदेकोनविंशतिमुखस्य प्रविविक्तभुजो वासनामयसूक्ष्मशब्दादिविषयाणामुपभोक्तुश्चैतन्यस्य तैजससंज्ञेति भावः)

अत्रापि विज्ञानमयादिकोशत्रयसमष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसचैतन्ययोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्चैवं जलजलाशयप्रतिविम्बिताकाशवच्चैक्यम् । एवमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः ॥ १४ ॥

यहाँ पर भी सम्पूर्ण चराचर अनन्त सूक्ष्मशरीरों को जव शरीररूपेण एक मानते हैं तो वे सव एकत्व-विवक्षा में एकबुद्धिविषयक होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि पद से व्यवहृत होते हैं और वे ही जव अलग अलग अनेक माने जाते हैं तो अनेक जीवों के स्वस्वबुद्धि-विषयक होने के कारण वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि पद से व्यवहृत होते हैं। इन सूक्ष्म शरीरों की समष्टि में जो चैतन्यात्मा वर्तमान है उसको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ या प्राण कहते हैं। वह इन सवमें—माला में सूत्र की तरह—वर्तमान है तथा विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय इन तीनों कोशों से युक्त होने के कारण ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया से सम्पन्न है। इस सूत्रात्मकहिरण्यगर्भ की यह समष्टि स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म है अतः सूक्ष्मशरीर एवं विज्ञानमयादि कोशत्रय तथा विराट् रूप में अनुभूत स्थूलप्रपञ्चविषयक वासनामय होने के कारण स्वप्न इसी कारण स्थूलप्रपञ्च के लय का स्थान कहलाती है।

व्यष्टि रूप से अर्थात् पृथक्-पृथक् सूक्ष्म शरीरों से उपलक्षित चैतन्य का तैजस संज्ञा है क्योंकि वह तेजोमय अन्तःकरण से विशिष्ट है। इसकी भी यह व्यष्टि स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर विज्ञानमयादि

कोशत्रय तथा विश्वचैतन्य से अनुभूत स्थूल शरीर-विषयक वासनामय होने के कारण स्वप्न इसी कारण स्थूल शरीर के लय का स्थान कहलाती है। ये दोनों सूत्रात्मा और तैजस स्वप्नावस्था में सूक्ष्म मनोवृत्तियों द्वारा वासनामय शब्दादि-विषयों का उसी प्रकार अनुभव करते हैं जिस प्रकार ईश्वर और प्राज्ञ अज्ञान वृत्तियों के द्वारा सुषुप्ति अवस्था में आनन्द का अनुभव करते हैं। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है :—'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त-भुक् (सूक्ष्मजगतो भोक्ता) तैजसः' (मा० ३) अर्थात् स्वप्नावस्था में वाह्यविषयों से असम्बद्ध अग्नि (सिर) सूर्य चन्द्र (नेत्र) वायु (प्राण) वेद (जिह्वा) दिशा (श्रोत्र) आकाश (नाभि) तथा पृथिवी (पैर) इन सात अङ्गों तथा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण एवं मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इन उन्नीस मुखों से वासनामय-सूक्ष्म शब्दादि विषयों के उपभोक्ता चैतन्य की तैजस संज्ञा है।

यहाँ पर भी विज्ञानमयादि कोशत्रयसमष्टिरूप की तथा तदवच्छिन्न सूत्रात्मा चैतन्य की एवं व्यष्टिरूप विज्ञानमयादिकोशत्रय की तथा तदवच्छिन्न तैजसचैतन्य की वन व वृक्ष के समान तथा वनावच्छिन्न एवं वृक्षावच्छिन्न आकाश के समान एवं जल व जलाशय के समान और उनमें प्रतिविम्बित आकाश के समान अभिन्नता है अर्थात् ये दोनों समष्टि और व्यष्टि तथा तदवच्छिन्न दोनों चैतन्य परस्पर उसी प्रकार एक हैं जैसे वनावच्छिन्नाकाश एवं वृक्षावच्छिन्नाकाश अथवा जलप्रतिविम्बि-ताकाश एवं जलाशयप्रतिविम्बिताकाश। तात्पर्य यह कि इनमें केवल समष्टि एवं व्यष्टि तथा सूत्रात्मा और तैजस यह नाममात्र का भेद है वस्तुगत्या समष्टि तथा व्यष्टि एवं तद्गत दोनों चैतन्य परस्पर एक हैं। इस प्रकार अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है॥ १४॥

पञ्चीकरणप्रकारः

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वैकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तदुक्तम्—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते॥' इति॥

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युप-लक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति, तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥ १५ ॥

सूक्ष्मप्रपञ्चोत्पत्तिरपञ्चीकृतमहाभूतेभ्यः, स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिश्च पञ्चीकृतमहाभूतेभ्य इत्युक्तपूर्वत्वात्सूक्ष्मप्रपञ्चोत्पत्तिनिरूपणानन्तरं स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिनिरूपणे पञ्चीकरणप्रकारज्ञानस्यापेक्षितत्वेनेह तत्प्रकारो निरूप्यते—

पञ्चीकरणप्रकारः—आकाशादिपञ्चमहाभूतेषु एकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् चतुर्धा समं विभज्य प्रत्येकमहाभूतस्य पञ्च पञ्च भागाः कृताः (एकोऽर्धभागः, चत्वारश्चाष्टमांशभागाः) ततश्चत्वारोऽष्टमांशभागाः स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेनान्यमहाभूतचतुरर्द्धभागेषु एकैकं संयोजिताः। एवं प्रत्येकमहाभूतस्य चतुरन्यमहाभूताष्टमांशविशिष्टस्वकीयार्धांशतया पञ्चमहाभूतविशिष्टत्वं सञ्जायते। अयमेव प्रकारः 'द्विधा विधाय चैकैकम्'—इत्यादिना पञ्चदश्यां तथा 'पृथिव्यादीनि भूतानी' त्यादिना सुरेश्वरवार्तिके चाप्युक्तः।

ननु छान्दोग्योपनिषदि तेजोऽबन्नानामुत्तरोत्तरक्रमेणोत्पत्तिमुक्त्वा तत् त्रिवृत्करणात् (प्रत्येकार्धभागविशिष्टेतरतुरीयांशभागात्) सृष्टिरुक्ता अत्र च पञ्चीकरणात् सा प्रतिपाद्यते इत्युभयोर्विरोध इति चेन्न, त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणश्रुतेरप्युपलक्षणत्वात् [स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वात्] सृष्टिपरिपूर्त्यर्थं भूतपञ्चकस्यापेक्षितत्वाच्छान्दोग्योक्तत्रिवृत्करणस्यावशिष्टाकाशवायुभूतद्वयविशिष्टभूतपञ्चकाभिप्रायेणोक्तत्वादिति भावः।

नन्वेवं पञ्चानामपि महाभूतानां पञ्चात्मकत्वे वायोः पार्थिवांशविशिष्टतया चाक्षुषप्रत्यक्षम्, आकाशस्य च जलीयांशविशिष्टतया त्वाच–चाक्षुषप्रत्यक्षपूर्वकं गन्धोपलब्धित्वं स्यादिति चेन्न, पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि स्वस्वार्धभागानामाधिक्येन वर्तमानादाकाशादिव्यपदेशोपपत्तौ वायोश्चाक्षुषप्रत्यक्षस्याकाशे च त्वाचप्रत्यक्षातिरिक्तगन्धोपलब्धेश्चाभावात्। अत एव पञ्चीकृताकाशे शब्दः, पञ्चीकृतवायौ च शब्दस्पर्शौ, अग्नौ च शब्दस्पर्शरूपाणि, जले च शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्याञ्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, उत्तरोत्तरं स्वस्वकारणानुरूपं स्पष्टतया प्रतीयन्ते ॥ १५ ॥

[सूक्ष्म प्रपञ्च की उत्पत्ति अपञ्चीकृतमहाभूतों से तथा स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति पञ्चीकृत महाभूतों से होती है यह पहले कहा जा चुका है। अतः सूक्ष्म प्रपञ्चोत्पत्ति के पश्चात् स्थूल प्रपञ्चोत्पत्ति के वर्णन में पञ्चीकरण-प्रकार का ज्ञान अपेक्षित होने के कारण पहले उसको बतलाते हैं]—

पञ्चीकरण प्रकार—आकाशादि पञ्चमहाभूतों के पहले दो-दो भाग किये फिर उन दशों भागों में से प्राथमिक पाँचों भागों के पुनः चार-चार भाग किये। इस प्रकार सबके पाँच-पाँच भाग हो गये (एक अर्द्धांश तथा चार अष्टमांश)। अब उन सब भागों में से अपने-अपने एक-एक अर्द्धांश भाग को छोड़कर एक-एक भाग (अष्टमांश) दूसरे-दूसरे चारों में मिला दिया। इस प्रकार प्रत्येक महाभूत में आधा अंश अपना और अष्टमांश दूसरे-दूसरे महाभूतों का मिल जाने से प्रत्येक आकाशादि पाँच-पाँच महाभूतों से संयुक्त हो जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी—

कल्पना किया कि पाँच व्यक्तियों के पास एक-एक रुपया है। प्रत्येक ने अपने-अपने रुपये की दो-दो अठन्नियाँ कर लीं और एक-एक अठन्नी अपने पास रखकर दूसरी अठन्नी की चार दुअन्नियाँ बना लीं तथा उन चारों दुअन्नियों को शेष चारों व्यक्तियों को दे दिया। यही काम पाँचों ने किया—अपनी-अपनी अठन्नी पास रखकर दुअन्नियों को चारों में बाँट दिया। इस प्रकार प्रत्येक के पास आठ-आठ आने और आ जाने के कारण सबके पास एक-एक पूरा-पूरा रुपया हो गया। इसी प्रकार आकाशादि पञ्चमहाभूतों का अपना-अपना अर्द्धांश तथा शेष चार भूतों का अष्टमांश मिलाकर पंचीकृत महाभूत बनते हैं। यही बात पञ्चदशी की निम्नलिखित कारिका में इस प्रकार कही गई है—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ॥'

सुरेश्वर वार्तिक में यही बात इस प्रकार कही गई है :—

'पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत्पुनः॥
एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवेशयेत्क्रमात्।
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि॥

वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत् ।
पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥'

यहाँ यह सन्देह होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् में पहले अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति बतला कर इनके त्रिवृत्करण (प्रत्येक के आधे तथा शेष दो के चतुर्थांश—चतुर्थांश) द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है— 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' [छा० ६।३।२]

'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि इति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्' [छा० ६।३।३]

किन्तु यहाँ पर पञ्चीकरण के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बतलायी जा रही है। इस शङ्का के समाधानार्थ कहते हैं कि उपनिषद् का त्रिवृत्करण इस पञ्चीकरण का उपलक्षण है अर्थात् अपना भी बोध करता है और इस पंचीकरण का भी द्योतक है क्योंकि सृष्टि की परिपूर्ति के लिये पञ्चमहाभूत अपेक्षित हैं अतः छान्दोग्य में अग्नि, जल और पृथिवी का त्रिवृत्करण शेष दो महाभूत—आकाश और वायु से संयुक्त पञ्चमहाभूतों के पञ्चीकरण का उपलक्षण है ।

अब यह संदेह होता है कि यदि पाँचों महाभूतों में पाँचों के भाग मिले हैं तो वायु में पृथिवी का अंश होने के कारण उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसी प्रकार आकाश में भी जलीय एवं पार्थिव अंश होने के कारण उसका त्वाच-प्रत्यक्ष, चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा गन्धोपलब्धि होने चाहिये पर ऐसा नहीं होता । अतः इस सन्देह के निवारणार्थ कहते हैं कि यद्यपि इन पाँचों में पाँचों के भाग मिले हुए हैं फिर भी प्रत्येक महाभूत में अपना-अपना अंश ही अधिक है इस कारण आकाशादि व्यवहार होता है और अपने-अपने में उनकी-उनकी अधिकता होने के कारण अपने-अपने गुणों के अनुकूल ही उनका उन-उन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है । यही कारण है कि पंचीकृत आकाश में शब्द; वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पञ्चीकृत पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उत्तरोत्तर अपने-अपने कारणों के अनुसार स्पष्ट प्रतीत होते हैं ॥ १५ ॥

स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि॥ १६॥

पूर्वोक्तप्रकारेण भूतारोपं (पञ्चमहाभूतपृथिव्याद्यारोपम्) प्रपञ्च्येह भौतिकारोपम् (भूर्भुवःस्वराद्यारोपम्) आह—एतेभ्य इति। एतावता ग्रन्थेन पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतोत्पत्तिमुक्त्वाऽधुना तेभ्यश्चतुर्दशभुवनादीनामुत्पत्तिप्रकारो वर्ण्यते इति भावः॥ स्पष्टोऽर्थः॥ १६॥

इन पंचीकृत महाभूतों से भूर्भुवः स्वः इत्यादि नामक ऊपर के लोक तथा अतल, वितल इत्यादि नीचे के लोक इस प्रकार चतुर्दश भुवन ब्रह्माण्ड एवं उसमें वर्तमान मनुष्य—पशु आदि जरायुज[1], पक्षी, सर्प इत्यादि अण्डज, भूमि को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले तृण-वृक्षादि उद्भिज्ज तथा पसीने—मैल से उत्पन्न होने वाले जुएँ—मच्छर आदि इन चतुर्विध स्थूल शरीरों तथा उनके पोषणार्थं अन्न—पानादि की उत्पत्ति होती है॥ १६॥

स्थूलप्रपञ्चनिरूपणम्

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्ट-

१. गर्भाशयो जरायुः स्यात्।

त्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्यविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते। तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः। अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः ॥ १७ ॥

अत्राप्येतच्चतुर्विधस्थूलशरीरस्यैकस्यानेकत्वविवक्षायामेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्व्यष्टिश्च। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सर्वप्राणिसमूहेषु 'अहम्' इत्यभिमानेन वर्ततेऽतो वैश्वानरः विविधं राजते (नानाप्रकारेण शोभते) अतः विराट् इति च कथ्यते। अज्ञानस्यैषा समस्तब्रह्माण्डान्तर्गतचतुर्विधस्थूलशरीरसमष्टिः स्थूलशरीरम्, मातापितृभुक्तान्नोत्पन्नत्वेनात्माच्छादकत्वेन चान्नमयः कोशः सुखदुःखादिभोगाधारत्वेन च स्थूलशरीरम् तत्तदिन्द्रियैस्तत्तद्विषयोपलब्धेश्च जाग्रदुच्यते।

पूर्वोक्तैतच्चतुर्विधस्थूलशरीरव्यष्ट्युपहितं चैतन्यं सूक्ष्मशरीराभिमानमजहत् प्रत्येकस्थूलशरीरे 'अहम्' इत्येवमभिमत्य वर्तमानमिति विश्वः कथ्यते। एतदज्ञानस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविकारत्वादात्माच्छादकत्वाच्चान्नमयकोशः, इन्द्रियैर्विषयादानाज्जाग्रदिति चोच्यते।

एतस्यां जाग्रदवस्थायामेतौ वैश्वानरविश्वौ दिग्वायुसूर्यवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणेन्द्रियपञ्चकेन क्रमशः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् तथा अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वाक्पाणिपादपायूपस्थेन्द्रियपञ्चकेन क्रमशः वचनादानगमनमलत्यागानन्दान् एवमिन्द्रब्रह्मशंकरविष्णुभिः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमशः सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानितान् स्थूलविषयाननुभवतः। यथा च माण्डूक्योपनिषदि-

'जागरितस्थानो वहिः प्रज्ञः····' इत्यादि । अत्रोप्युभयप्रकारसमष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहित-चैतन्यवैश्वानरविश्वयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च, जलाशयजलवत्तत्प्रति-विम्बिताकाशवच्च परस्परं पूर्ववदभेदः। एवंरीत्या पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिर्जायते ॥

इनमें भी ये चारों प्रकार के स्थूल शरीर, एकत्व या अनेकत्व की विवक्षा में प्रत्येक व्यक्ति की एक बुद्धि तथा पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की अलग-अलग अनेक बुद्धियों के विषय होने के कारण वन तथा जलाशय के समान समष्टि एवं वृक्ष तथा जल के समान व्यष्टि के नाम से व्यवहृत होते हैं अर्थात् एकत्व विवक्षा में जैसे सब वृक्ष वन तथा सब जल जलाशय कहलाते हैं उसी प्रकार स्थूल शरीर एकत्व विवक्षा में एक बुद्धि का विषय तथा अनेकत्व विवक्षा में भिन्न-भिन्न शरीर विभिन्न बुद्धियों के विषय माने जाते हैं। इस समष्टि से उपहित चैतन्य को वैश्वानर, विराट् कहते हैं क्योंकि समस्त प्राणियों में 'मैं' इस अभिमान द्वारा विविध प्रकार से शोभायमान है। अज्ञान (माया, अविद्या)की इस समस्त ब्रह्माण्डान्त-र्गत चार प्रकार के स्थूल शरीरों की समष्टि को स्थूलशरीर कहते हैं। यह माता-पिता के खाये हुए अन्न से उत्पन्न होता है अतः अन्नमय, आत्मा का आच्छादक होने के कारण कोश, सुखदुःखादि के भोग का आधार होने के कारण स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगने के कारण जाग्रत् कह-लाता है। पूर्वोक्त इन चार प्रकार के स्थूल शरीरों की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को विश्व कहते हैं क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर का अभिमान रखता हुआ भी प्रत्येक स्थूल शरीरादि में 'मैं' इस अभिमान रूप से वर्तमान है। इस अज्ञान (अविद्या) की भी यह व्यष्टि स्थूल शरीर, अन्न का विकार होने के कारण अन्नमय कोश तथा जाग्रत् कहलाती है।

इस जाग्रत अवस्था में ये विश्व और वैश्वानर दिक्, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमार इन देवताओं से क्रमशः नियन्त्रित श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण इन पाँच इन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनका तथा अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति इनके द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वाक्, पाणि, पाद, तथा मल-मूत्रेन्द्रिय रूप पाँच इन्द्रियों से क्रमशः बोलना, लेना, चलना, मलत्याग तथा आनन्द का, चन्द्र, ब्रह्मा, शङ्कर तथा विष्णु इनके द्वारा क्रमशः नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्तरूपी चार अन्तरिन्द्रियों से क्रमशः सङ्कल्प, निश्चय,

गर्व तथा स्मरणरूपी सम्पूर्ण स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। यही बात माण्डूक्य उपनिषद् की 'जागरितस्थानो (जागरितं स्थानम् अवस्था यस्य) बहिः प्रज्ञः (बहिः स्वात्मव्यतिरिक्तविषयेषु प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य) सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः' इस श्रुति में भी बतलाई गई है।

यहां पर भी दोनों स्थूल समष्टि व व्यष्टि में तथा तदुपहित चैतन्य विश्व वैश्वानर में वन व वृक्ष तथा जल व जलाशय एवं जलगत तथा जलाशयगत आकाश की तरह परस्पर कोई भेद नहीं।

इस प्रकार पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है॥१७॥

महाप्रपञ्चनिरूपणम्

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वाऽवान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव। आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति।

एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः॥ १८॥

एतावता ग्रन्थेन कारणसूक्ष्मस्थूलप्रपञ्चं पार्थक्येन निरूप्येदानीं तेषामपि समष्टिव्यष्टिनिरूपणं क्रियते एनेपामिति। पलाशखदिरादिवृक्षावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति, यथा वा वापीकूपतडागाद्यवान्तरजलाशयानामेको महान् जलाशयो भवति तथैव रीत्या कारणसूक्ष्मस्थूलशरीराणां समष्ट्या एको महान् प्रपञ्चो भवति। तथा वनावच्छिन्नाकाशवृक्षावच्छिन्नाकाशयोर्जलगतजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशयोश्च यथा न कोऽपि भेदस्तथैव तन्महाप्रपञ्चसमष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितचैतन्येश्वरप्राज्ञयोः, हिरण्यगर्भतैजसयोः, वैश्वानरविश्वयोश्च न कोऽपि भेदः।

एतन्महाप्रपञ्चेन तथा तदुपहितचैतन्येन चाभिन्नं सदनुपहितचैतन्यं (शुद्धचैतन्यम्) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यस्य वाच्यार्थस्तथा भिन्नं सल्लक्ष्यार्थो भवति अर्थात् यथा अग्निप्रक्षिप्तेन ज्वलदङ्गारतापन्नेनायसा दग्धः 'अहमयसा दग्धः' इति

व्याहरति वस्तुगत्या दाहकता तु वह्निनिवन्धनैव नायोनिवन्धना प्रत्युताग्निसम्पर्केणैवाग्न्ययसोस्तादात्म्याध्यासस्तथैव महाप्रपञ्चेन तदवच्छिन्नचैतन्येन चान्योन्यतादात्म्याध्यासापन्नं यदनुपहितं चैतन्यं तदेव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यस्य वाच्यार्थतां तथा पूर्वोक्तप्रपञ्चेन विविक्तं सत्तस्य लक्ष्यार्थताञ्च भजते। अयमाशयः—सर्वम् अर्थात् महाप्रपञ्चः, तदुपहितं चैतन्यम् तदनुपहितं चैतन्यञ्च कथमेकं स्यादिति विचिकित्सायां मुख्यार्थस्य बाध इति लक्षणया सर्वं खल्विदं रूपविशेषणांशं परित्यज्य चैतन्यांशमात्रग्रहणेन महाप्रपञ्चोपहितचैतन्यतदनुपहितचैतन्ययोश्चैकत्वं निर्विवादं स्यात्। यथाऽयो दहतीत्यस्य लक्षणयाऽयोगताग्निर्दहतीत्यर्थस्तथैव सर्वस्यैतत्प्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वाभावे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्येऽपि सर्वं खल्विदमित्यस्य चैतन्यांशे लक्षणतया सर्वप्रपञ्चतद्गतचैतन्ययोश्चैकत्वं सिद्धयति।

एतावता ग्रन्थेनेश्वरचैतन्ये सामान्यरूपेणास्य महाप्रपञ्चस्यारोपप्रकारः प्रदर्शितः॥

जिस प्रकार पलाश, खदिर आदि के अलग-अलग वनों की समष्टि से एक महावन बन जाता है तथा वापी—कूप—तडागादि भिन्न-भिन्न जलाशयों से एक महाजलाशय बन जाता है उसी प्रकार कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की समष्टि से एक महाप्रपंच बन जाता है तथा जिस प्रकार वनावच्छिन्न या वृक्षावच्छिन्न एवं जलगत तथा जलाशयगत प्रतिबिम्वाकाश में कोई भेद नहीं उसी प्रकार उस महाप्रपंच की समष्टिव्यष्टि तथा तदुपहित चैतन्य ईश्वर, प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ, तैजस, वैश्वानर, विश्व में कोई भेद नहीं।

इस महाप्रपञ्च तथा तदुपहित चैतन्य से अभिन्न होकर अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्य अर्थ है तथा वही विविक्त (भिन्न) होने पर लक्ष्य अर्थ है अर्थात् जैसे लोहे के गोले को आग में डाल देने से वह लाल हो जाता है और उससे जल जाने पर 'मैं लोहे से जल गया' यह कहा जाता है पर वास्तव में दाहकताशक्ति अग्नि में होती है, लोहे में नहीं और आग के सम्पर्क से लोहा तथा आग का अन्योन्य तादात्म्याध्यास होता है उसी प्रकार महाप्रपञ्च तथा तदवच्छिन्न चैतन्य के साथ अन्योन्य तादात्म्याध्यासापन्न जो अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य है वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्य अर्थ है और उक्त महाप्रपञ्च एवं तदवच्छिन्न चैतन्य के अन्योन्य तादात्म्याध्यास से जब शुद्ध चैतन्य को अलग मानते हैं तो वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्य अर्थ हो

जाता है। तात्पर्य यह कि जब ऐसा कहेंगे कि महाप्रपञ्च तथा तदुपहित चैतन्य एवं अनुपहित चैतन्य एक कैसे हो सकता है तो मुख्यार्थ बाध होने के कारण लक्षणा करनी पड़ेगी और उसके द्वारा 'सर्वं खल्विदं' रूप विशेषणांश को त्याग कर चैतन्यांशमात्र का ग्रहण किया जायगा, इस प्रकार महाप्रपञ्चोपहित चैतन्य एवं अनुपहित चैतन्य एक हो जायेंगे। जिस प्रकार 'अयो दहति' में मुख्यार्थ का बाध है क्योंकि लोहा जला नहीं सकता अतः इस वाक्य में अयस् शब्द की अयोगत अग्नि में लक्षणा करके 'लोहे की अग्नि जलाती' है यह लक्ष्य अर्थ माना जाता है उसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में भी सर्वं खल्विदं की चैतन्यांश में लक्षणा के द्वारा सर्वप्रपञ्च तथा चैतन्य की एकता सिद्ध होगी।

इस प्रकार यहाँ तक वर्णन किया गया कि ईश्वर चैतन्य में सामान्य रूप से इस महाप्रपञ्च का किस प्रकार आरोप किया जाता है ॥ १८ ॥

पुत्रादीनामात्मत्वसाधनम्

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।

चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राणा आत्मेति वदति।

---

१. प्रत्यक्त्वं नाम सर्वान्तरत्वम्।

अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति ।

बौद्धस्तु 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय' इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति ।

प्राभाकरतार्किकौ तु 'अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमय' इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः ।

भाट्टस्तु 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति ।

अपरो बौद्धः 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति ।। १६ ।।

इदानीं प्रत्यक्चैतन्ये 'अयमात्मा, अयमात्मा' इति विशेषारोपप्रकारो निरूप्यते—

स्थूलबुद्धयो जनाः 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इति श्रुतिप्रमाणेन पुत्रे स्वशरीरनिर्विशेषप्रेम्णा, पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टो वा जात इत्यनुभवेन च पुत्रमेवाहं पदवाच्यम् (प्रत्यक्चैतन्यम्) वदन्ति ।

चार्वाकोऽभिधत्ते यत्स्थूलशरीरमेवात्मा न पुत्रादि । यतो हि गृहेऽग्निना सन्दीप्ते सति पुत्रादिकं परित्यज्यापीदं शरीरं स्वसंरक्षणेच्छया तस्माद् बहिरागच्छतीति पुत्राद्यपेक्षया शरीरेऽस्मिन्मोहाधिक्यमुपलभ्यते । विषयेऽस्मिंस्ते 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इति श्रुतिम् 'अहं स्थूलः' 'अहं कृशः' इत्याद्यनुभवञ्च प्रमाणरूपेणोद्धरन्ति ।

लोकायतचार्वाकाणां मते इन्द्रियाण्येवात्मा । सुषुप्तावस्थायां निश्चेष्टावस्थायाञ्च विरते सर्वेन्द्रियव्यापारे शरीरं न किमपि गमनादिव्यापारं कर्त्तुं पारयति तथा 'काणोऽहं, बधिरोऽहम्' इत्याद्यनुभवोऽपि जायते । एतदतिरिच्य 'ते ह

प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' एषा श्रुतिरपि प्रमाणम्—प्रजापतिसमीपगमनम्, कथनञ्चैतत्सकलमचेतने न सम्भवति अतः इन्द्रियव्यापारेणैव शरीरस्य गमनादि-कार्यसम्भवादिन्द्रियाण्येवात्मेति निश्चीयते।

प्राणात्मवादी चार्वाकः कथयति यन्न शरीरं नापि चेन्द्रियाण्यात्मा प्रत्युत तद्भिन्नाः प्राणा एवान्तरात्मा, तैर्विना शरीरस्येन्द्रियाणां वा व्यापाराभावात्; इत्येतदतिरिक्तोऽस्ति कश्चिद्यः साधनभूतैरेभिः शरीरेन्द्रियैः कर्म करोति। अत एवान्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः इति श्रुतिस्तथा 'बुभुक्षितोऽहं' पिपासितोऽहम्' इत्याद्यनुभवश्च संगच्छते।

मन आत्मवादी चार्वाकस्तु 'प्रत्येकज्ञाने प्राणादिभिः सह मनःसंयोगोऽत्यन्ता-वश्यक इति मनसि सुप्ते प्राणा वाण्यादयो वा न किञ्चिद्विधातुं शक्ताः, 'सङ्कल्प-महं करोमि' 'विकल्पमहं करोमि' इत्याद्यनुभवश्च जायते। अतोऽन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः इति श्रुतिमनुसृत्य मन एवात्मेति वदति।

योगाचारमतावलम्वी विज्ञानवादी वौद्धो बुद्धिमेवाभिधत्ते प्रत्यक् चैतन्यम्। मन इन्द्रियाणि च तदुपकरणभूतानि। कर्त्तुरभावे करणमात्रं न कार्यसम्पादन-क्षमम्; तथा 'चाहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता' इत्याद्यनुभवोऽपि जायते। अतो ज्ञायते यत्कर्त्ता स्वकृतकर्मानुसारेण तत्फलस्य भोक्ता च शरीरेन्द्रियापेक्षयाऽन्य एव कश्चिदस्ति स च बुद्धिः ? एतस्मिन् विषये सः 'अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमय' इति श्रुतिम् तथा 'अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता' इत्यनुभूतिञ्च प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति।

प्रभाकरमतावलम्बिमीमांसकास्तार्किकाश्चेत्थं वदन्ति यद्बुद्धिसुख-दुःखेच्छादीनामज्ञाने (ज्ञानभिन्ने, आत्मनि) लयः, अहमज्ञानीत्यनुभवश्च जायतेऽतोऽज्ञानमेवात्मा!

कुमारिलभट्टमतानुयायिमीमांसकानां मतेऽज्ञानोपहितचैतन्यमात्मा। यतो हि सुषुप्तौ मनस इन्द्रियाणां वा न भवति व्यापार इति तद्द्वारोत्पन्नेन ज्ञानेन 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' इति परामर्शोऽपि न सम्भवति किन्तु सुप्तोत्थितस्य स परामर्शो भवतीत्यन्यस्य कस्यचिदभावादज्ञानसंवलितचैतन्य-मेवात्मा सिध्यति [परामर्शे चास्मिन् सुखमहमस्वाप्सम् इति बोधांशः प्रकाश-कोऽतः सुषुप्तिदशायां प्रकाशसद्भावः; तथा न किंचिदवेदिषम् इत्यत्र विज्ञानाभाव-वत्त्वदर्शनादप्रकाशसद्भावः। इत्थं सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशयोरुभयोः स्थितिः। किञ्च

मामहं न जानामि इत्यनुभवोऽपि भवति; अत्र द्वावंशौ वर्तेते—एकः कर्त्रंशः, अपरश्च ज्ञानांशः। एतेन ज्ञानापेक्षया ज्ञाताऽन्य इति सिध्यतीति स एव ज्ञाता आत्मेति भावः।]

माध्यमिकमतावलम्बिनो बौद्धास्तु 'असदेवेदमग्र आसीत्' अर्थात् एतन्नामरूपात्मकं जगत् सृष्टेः पूर्वं शून्यमासीत्, सुषुप्तौ न किञ्चित्तिष्ठति, सुषुप्त्यनन्तरमुत्थितस्य 'सुषुप्तौ नाहमासम्' इति निजाभावपरामर्शविषयकोऽनुभवोऽपि भवतीति सर्वाभावरूपशून्यमेवात्मा। स च न किमपि द्रव्यमिति वदन्ति ॥ १९ ॥

[अब इसके आगे यह निरूपण करते हैं कि प्रत्यङ् चैतन्य (अन्तरात्मा, जीवात्मा) में 'यह आत्मा है' 'यह आत्मा है' यह विशेष रूप से आरोप कैसे किया जाता है।]

मोटी बुद्धि वाले मनुष्य कहते हैं कि पुत्र ही आत्मा (अहंपदवाच्य) है। इस विषय में वे लोग 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस श्रुति को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं और यह कहते हैं कि पुत्र के ऊपर अपने समान ही प्रेम होता है अर्थात् जितना प्रेम हम अपने शरीर से करते हैं उतना ही प्रेम पुत्र से भी करते हैं तथा उसके पुष्ट या नष्ट होने पर 'मैं' पुष्ट या नष्ट हो गया यह अनुभव करते हैं। अतः पुत्र ही आत्मा है।

चार्वाक कहता है कि यह स्थूल शरीर ही आत्मा है पुत्रादि नहीं, क्योंकि घर में आग लग जाने पर पुत्रादि को छोड़ कर भी यह शरीर बाहर निकल आता है अतः पुत्रादि की अपेक्षा इस शरीर पर ही अधिक मोह देखा जाता है। इस विषय में लोग 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इस श्रुति को तथा 'मैं मोटा हूँ' 'मैं पतला हूँ' इस अनुभव को प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं।

लोकायत चार्वाकों का मत है कि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं क्योंकि सो जाने पर या निश्चेष्ट बैठ जाने पर जब इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं करतीं तब शरीर गमनादि कोई भी काम नहीं कर सकता तथा 'मैं काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' यह अनुभव भी होता है। इसके अतिरिक्त 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' यह श्रुति भी प्रमाण है—प्रजापति के पास जाना और उनसे कहना (प्रश्न करना) यह सब अचेतन नहीं कर सकते अतः इन्द्रियों के काम करने पर ही शरीर का गमनादि कार्य करना देखकर यह निश्चित होता है कि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

प्राणात्मवादी चार्वाक कहते हैं कि इन्द्रियाँ तथा शरीर ये कोई आत्मा नहीं प्रत्युत इनसे भिन्न ये प्राण ही अन्तरात्मा हैं। क्योंकि प्राणों के बिना यह शरीर अथवा इन्द्रियाँ कोई भी काम नहीं कर सकते। अतः निश्चित होता है कि इनके अतिरिक्त कोई है जो कि इनके द्वारा काम करता है। इसलिये 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इस श्रुति के प्रमाण से तथा 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' इस अनुभव से प्राण ही आत्मा है यह सिद्ध होता है।

मन आत्मवादी चार्वाक कहता है कि हर प्रकार के ज्ञान में प्राणादिकों के साथ मन का संयोग अत्यन्त आवश्यक है। अतः मन के सो जाने पर प्राण या वाणी आदि कुछ नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त 'मैं सङ्कल्प करता हूँ', 'मैं विकल्प करता हूँ' इत्यादि अनुभव भी होता है अतः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इस श्रुति के अनुसार मन ही आत्मा है।

योगाचार मतावलम्बी विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि बुद्धि आत्मा है, मन तथा इन्द्रियाँ करण हैं। यदि कर्त्ता न हो तो करणमात्र में कार्य सम्पादन की शक्ति नहीं रहती। इसके अतिरिक्त 'मैं करता हूँ', 'मैं भोगता हूँ' यह अनुभव भी होता है। इससे ज्ञात होता है कि काम करने वाला तथा उसके अनुसार फल भोगने वाला शरीर और इन्द्रियों से अलग ही कोई है—वह बुद्धि है। इस विषय में वे लोग 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इस श्रुति को तथा 'अहं कर्ता', 'अहं भोक्ता' इत्यादि अनुभवों को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं।

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक तथा तार्किक यह कहते हैं कि बुद्धि इत्यादि—ज्ञान–सुख–दुःखेच्छादि का अज्ञान (ज्ञान भिन्न आत्मा) में लय हो जाता है तथा 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि अनुभव भी होता है इसलिये अज्ञान आत्मा है।

कुमारिलभट्टमतानुयायी मीमांसक कहते हैं कि अज्ञानोपहित चैतन्य आत्मा है। क्योंकि सुषुप्ति दशा में मन तथा इन्द्रियों का व्यापार नहीं होता अतः उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान से 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' यह परामर्श नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा परामर्श सोकर उठने के बाद होता है। इसलिये अन्य किसी के अभाव में अज्ञानसंवलित चैतन्य ही आत्मा सिद्ध होता है। (इसमें 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह बोधांश प्रकाशक है। अतः सुषुप्ति में प्रकाश-

सद्भाव तथा 'न किञ्चिदवेदिषम्' में विज्ञानाभाव होने के कारण अप्रकाशसद्भाव इस प्रकार सुषुप्तिदशा में प्रकाशाप्रकाशसद्भाव दोनों रहते हैं। इसके अतिरिक्त 'मामहं न जानामि' यह अनुभव भी होता है। इसमें दो अंश हैं, एक कर्त्रंश दूसरा ज्ञानांश। इससे सिद्ध है कि ज्ञान की अपेक्षा ज्ञाता अन्य है वही आत्मा है)।

माध्यमिकमतावलम्बी बौद्ध कहते हैं 'असदेवेदमग्र आसीत्' अर्थात् यह नामरूपात्मक जगत् सृष्टि के पूर्व शून्य था तथा सुषुप्ति में कुछ रहता ही नहीं; सुषुप्ति के पश्चात् उठने पर 'सुषुप्ति में मैं न था' ऐसा निजाभाव परामर्श विषयक अनुभव भी होता है। अतः सर्वाभावरूप शून्य ही आत्मा है—वह कोई द्रव्य नहीं ॥ १९ ॥

पुत्रादीनामात्मत्वखण्डनम्

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव, किञ्च, प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्य्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः ॥ २० ॥

पुत्राद्यारभ्यशून्यपर्यन्तमुक्तानामात्मत्वमिदानीं खण्डयते एतेषामिति—एतस्मात्पूर्वं पुत्रादीनामात्मत्वसिद्धये प्रमाणरूपेणोपन्यस्तानां श्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैस्स्वयमेव निरासो जात इति पुत्रादिशून्यपर्यन्तेऽनात्मत्वे सिद्धे 'कोऽहं प्रत्ययविषयक आत्मे'ति सन्देहस्तादवस्थ्य एवेति तन्निरासायोद्ध्रियमाणाभिरन्यश्रुतिभिरेतत्प्रमाणीक्रियते यत्पुत्रादीनामात्मत्वसिद्धये याः श्रुतयः प्रमाणत्वेनोपन्यस्तास्ताः सर्वाः वक्ष्यमाणश्रुतिभिर्बाध्यन्ते इति

पुत्रादीनामात्मत्वं कथमपि न सिध्यति अपि तु 'अहं प्रत्ययविषयक आत्मा तद्व्यतिरिक्त एव'।

पूर्वोक्तपुत्रादीनामात्मत्वसाधकबाधकश्रुतयोऽधः प्रदर्श्यन्ते—

आत्मत्वसाधकश्रुतयः	आत्मत्वबाधकश्रुतयः
(१) आत्मा वै जायते पुत्रः	(१) कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत
(२) स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्'	(२) अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्
(३) ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः 'काणोऽहं बधिरोऽहम्'	(३) अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्
(४) अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः	(४) अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः
(५) अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता'	(५) अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता
(६) अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः प्रज्ञानघन एवानन्दमयः	(६) 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्' 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः'
(७) असदेवेदमग्र आसीत्	(७) सदेव सौम्येदमग्र आसीत्

किञ्च, एष स आत्मा सर्वान्तरः, शरीरं शरीरेषु, प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, मनसो मे मनो विदुः, यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, न करोति न लिप्यते, सन्ततमेनं ततो विदुः; इत्यादिश्रुतयोऽपि प्रतिपादयन्तीदमेव यदात्मा पुत्रशरीरेन्द्रियाद्यपेक्षया सर्वथा व्यतिरिणक्ति। यतो हि पुत्रादिशून्यपर्यन्तं सर्वमेव जडम्। तत्र चैतन्याभासमात्रमेवेति सर्वत्र घटादिष्विवानित्यत्वम्। अतस्तत्प्रकाशकम् 'अहं ब्रह्मास्मी'ति विद्वदनुभूतं प्रबलतमश्रुतिप्रमाणितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावञ्च प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मा सिध्यति।

विशेषः—कतिपयश्रुतयः पुत्रादीनामात्मत्वं प्रतिपादयन्ति कतिपयाश्च तदनात्मत्वम्; वेदवाक्यत्वं तूभयोरेवेति पुत्राद्यनात्मकत्वसाधकश्रुतीनामेव प्रामाणिकत्वं तदात्मकत्वसाधकश्रुतीनाञ्चाप्रामाणिकत्वमित्यत्र विनिगमनाविरहः। एवञ्च सति कथं न पुत्राद्यात्मकत्वप्रतिपादकश्रुतीनामेव प्रामाण्यम्, तद्बाधकश्रुतीनाञ्चाप्रामाण्यम्, वेदवाक्यत्वेनोभयोरेव समानत्वादिति कथं प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्णय इति चेदत्र

ब्रूमः—पुत्राद्यात्मकत्वसाधकश्रुतीनां सर्वथाऽप्रामाणिकत्वमितीह नाशयोऽपि तु अस्थूलम् , अमनाः अकर्ता इत्यादिश्रुतिविरोधेन तासां स्वार्थे न किमपि तात्पर्यमपि तु स्थूलारुन्धतीन्यायेन पूर्वपूर्वश्रुतिभिस्तत्तन्निराकरणपूर्वकं सूक्ष्मसूक्ष्मवस्तुबोधने एव। इत्थञ्च साक्षात्परम्परया वा तस्यैवाद्वितीयब्रह्मणः प्रतिपादकत्वात्सर्वेषां वेदवाक्यानां प्रामाण्यमिति न मिथो विरोधः। पूर्वोक्तश्रुतिप्रतिपादितः सूक्ष्मातिसूक्ष्मश्चेतनस्वरूपः स आत्मा स्वयंप्रकाशः–घटादिजडपदार्थः स्वप्रकाशार्थं प्रकाशमपेक्षते किन्तु स चेतन इति तत्प्रकाशनार्थं न प्रकाशान्तरमपेक्षते; 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः', 'आत्मैवास्य ज्योतिः', इत्यादिश्रुतयोऽस्य स्वयंप्रकाशकत्वे प्रमाणम्। स चैकोऽप्यनेकत्र वर्तमानः—

(१) एको देवो बहुधा सन्निविष्टः।
(२) उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा।
(३) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
(४) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

इत्यादि श्रुतयस्तस्य तथात्वे प्रमाणम्। इत्थञ्चोक्तप्रमाणैरेतत्सिध्यति अहंदेहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादिविलक्षणस्तदध्यक्षश्चात्मा भिन्न एव। स एव च कर्मफलस्य भोक्ता शुद्धचैतन्यत्वे तद्व्यतिरिक्तम्। तेन च सहैतस्य चैतन्यस्य स्वाभाविकमैक्यम्। आत्मचैतन्यं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु अन्नमय–मनोमय–प्राणमय–विज्ञानमयानन्दमयकोशेषु चोपलभ्यते किन्तु शुद्धचैतन्यमेतस्मात्सर्वथा परम्। एवमेव स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरव्यष्ट्यभिमानिचैतन्यं (जीवः) विश्वः, तैजसः, प्राज्ञ इति चोच्यते तथा तच्छरीरसमष्ट्यभिमानि चैतन्यम् (ईश्वरः) वैश्वानरः (विराट्) सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भः) ईश्वरश्चोच्यते। किन्तु नित्यशुद्धमात्मचैतन्यमेतेभ्यः सर्वेभ्यः परा स्वतन्त्रसत्तेत्यवधेयम् ॥ २० ॥

पुत्रादिकों का आत्मत्वखण्डन—पूर्वोक्त जिन-जिन व्यक्तियों ने पुत्रादिकों को आत्मा सिद्ध करने में जो-जो श्रुतियाँ युक्तियाँ तथा अनुभव प्रमाणरूप से उद्धृत किये हैं उनका खण्डन उत्तरोत्तर श्रुतियों, युक्तियों तथा अनुभवों से अपने आप हो गया है। इस प्रकार पुत्रादि से लेकर शून्य पर्यन्त सब में अनात्मत्व सिद्ध हो जाने पर 'अहंप्रत्ययविषयक आत्मा कौन है' यह सन्देह बना ही रह जाता है। इसके निवारणार्थ और भी श्रुतियां उद्धृत करते हैं तथा उनके द्वारा

यह प्रमाणित करते हैं कि पुत्रादिकों के आत्मत्व सिद्ध करने में जो श्रुतियां प्रमाण-स्वरूप उद्धृत की गई हैं उन सब का आगे कही जाने वाली श्रुतियों से बाध हो जाता है अतः पुत्रादि आत्मा नहीं हो सकते वरन् अहंप्रत्ययविषयक आत्मा इनसे भिन्न ही है। पूर्वोक्त प्रत्येक श्रुति के बाधनार्थ एक-एक श्रुति यहां उद्धृत की जाती है :—

पुत्रादि की आत्मत्वसाधक श्रुतियां	पुत्रादि की आत्मत्वबाधक श्रुतियां
(१) आत्मा वै जायते पुत्रः[1]	(१) कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्[2]
(२) स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः[3] (स्थूलोहं कृशोऽहम्)	(२) अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्[4]
(३) ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः[5] (काणोऽहम् बधिरोऽहम्)	(३) अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्[6]
(४) (i) अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः[7], (ii) अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः	(४) अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः[8]
(५) अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः[9] (अहं कर्ता अहं भोक्ता)	(५) अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता[10]
(६) अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः[11] 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः'	(६) 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्'[12] 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः'
(७) असदेवेदमग्र आसीत्[13]	(७) सदेव सौम्येदमग्र आसीत्[14]

इसके अतिरिक्त 'एष स आत्मा सर्वान्तरः, अशरीरं शरीरेषु, प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मे मनो विदुः, यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह; न करोति न लिप्यते, सन्ततमेवं ततो विदुः;' इत्यादि श्रुतियाँ भी यही बतलाती हैं कि पुत्र, शरीर तथा इन्द्रिय आदि से आत्मा भिन्न है क्योंकि पुत्रादि-शून्य पर्यन्त सब जड़ हैं उनमें चैतन्याभासमात्र है अतः वे घटादि के समान

---

१. कौशी० उ० (२।११)　२. कठ० उ० (४।१)　३. तै० उ० (२।१।१)
४. बृहद्० उ० (३।८।८)　५. छा० उ० (५।१।७)　६. मुण्डक० उ० (१।१।६)
७. तै० उ० (२।३।१)　८. मुण्डक उ० (२।१।२)　९. तै० उ० (२।४।१)
१०. श्वेता० उ० (१।९)　११. तै० उ० (२।५।१)　१२. कैवल्य उ० (२१)
१३. छा० उ० (६।२।१)　१४. छा० उ० (६।२।१)

अनित्य हैं और उनको प्रकाशित करने वाला 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का विद्वदनु-भूत एवं प्रबलतम श्रुतियों से प्रमाणित नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मा है।

विशेष—कुछ श्रुतियाँ पुत्रादि को आत्मा कहती हैं और कुछ श्रुतियाँ उनका विरोध करती हैं। अतः पुत्रादि की आत्मत्वबाधक श्रुतियाँ ही प्रामाणिक हैं और पुत्रादि की आत्मत्वसाधक श्रुतियाँ प्रामाणिक नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुतियाँ वेदवाक्य हैं और वेदवाक्यों में कुछ प्रामाणिक हों कुछ अप्रामा-णिक, यह नहीं हो सकता। यदि ऐसा ही है तो पुत्रादि को आत्मा बतलाने वाली श्रुतियों को ही प्रामाणिक तथा उनकी बाधक श्रुतियों को ही अप्रामाणिक क्यों नहीं मानते? वेदवाक्य तो दोनों ही हैं। अतः दोनों में प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्णय कैसे किया जा सकता है? इसका समाधान यह है कि पुत्रादि की आत्मत्वसाधक श्रुतियाँ सर्वथा अप्रामाणिक हैं यह बात नहीं प्रत्युत 'अस्थूलम्, अमनाः, अकर्त्ता' इत्यादि श्रुतियों के विरोध से यह तात्पर्य है कि उनका स्वार्थ में कोई तात्पर्य नहीं अपि तु स्थूलारुन्धती-न्याय से पूर्व-श्रुतियों के निराकरण द्वारा सूक्ष्म-सूक्ष्म वस्तु के समझाने में उनका तात्पर्य है। अरुन्धती बहुत छोटा तारा है, उसे जो न पहचानता हो उसको इतने तारागण में पहचनवाना साधारण बात नहीं। अतः उसके लिये यह युक्ति करते हैं कि पहले उस व्यक्ति को चन्द्रमा दिखलाते हैं और उससे कहते हैं कि यही अरुन्धती है। इसके पश्चात् यह कहते हैं कि चन्द्रमा के पास जो तारा है वह अरुन्धती है। फिर यह कहते हैं कि उस तारा से भिन्न किन्तु उसी के पास जो सात तारे हैं उनको अरुन्धती कहते हैं। तदन्तर उन सातों में से तीन को अरुन्धती और फिर उन तीनों में से बीच वाले को अरुन्धती कहकर उनमें भी अत्यन्त सूक्ष्म तारे को अरुन्धती कहकर उसकी पहचान करवाते हैं।

यहाँ अरुन्धती तारा समझाने के लिये पाँच वाक्यों का आश्रय लिखा गया—(१) तारा (२) सात तारे (३) तीन तारे (४) मध्यम तारा तथा (५) सूक्ष्म तारा, किन्तु पारस्परिक विरुद्धार्थ प्रतिपादक होने के कारण वे सब अप्रामाणिक नहीं माने जा सकते क्योंकि समझने वाले की बुद्धि के अनुसार सोपान-आरोहण-न्याय से उत्तरोत्तर चलते (समझते) जाने पर पूर्व पूर्व का परित्याग किया गया है फिर भी सबका तात्पर्य अरुन्धती के प्रतिपादन में ही है।

इसी प्रकार यहां पर भी 'अन्नमयः, प्राणमयः, मनोमयः, विज्ञानमयः, आनन्दमयः आत्मा' इत्यादि परस्पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादक वाक्य कहे गये हैं। किन्तु समझने वाले की बुद्धि के अनुसार क्रमशः पूर्व-पूर्व का परित्याग करके उत्तरोत्तर परम सूक्ष्म ब्रह्म का प्रतिपादन करना ही सबका तात्पर्य है। इसलिये सब वेदवाक्य साक्षात् अथवा परम्परा से उसी अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक होने के कारण सभी प्रामाणिक हैं—किसी में विरोध नहीं। इस प्रकार का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतनस्वरूप वह आत्मा स्वयंप्रकाश है—घटादि जडपदार्थों को प्रकाशित करने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है पर आत्मा चेतन है अतः इसको प्रकाशित करने के लिये किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं—'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादि श्रुतियाँ इसके प्रकाश होने में प्रमाण हैं। वह आत्मा एक होता हुआ भी अनेक वर्तमान है ऐसा श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं—

(१) एको देवो बहुधा सन्निविष्टः।

(२) उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा।

(३) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।

(४) एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।

इत्यादि प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि से विलक्षण और उनका अध्यक्ष आत्मा उनसे सर्वथा भिन्न है, वही कर्मफलों को भोगता है।

शुद्ध चैतन्य इस आत्मा से भिन्न है। उसके साथ इस जीव चैतन्य की स्वभावगत एकता है। आत्मा चैतन्य जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में यथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय इन अवस्थाओं में यथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय इन पाँचों कोशों में उपलब्ध होता है परन्तु शुद्ध चैतन्य इन सबसे परे है। इसी प्रकार स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर के व्यष्टि अभिमानी चैतन्य (जीव) को विश्व, तैजस तथा प्राण कहते हैं और इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर को वैश्वानर (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर कहते हैं परन्तु नित्य शुद्ध आत्मचैतन्य (तुरीय चैतन्य) इन सबसे परे स्वतन्त्र सत्ता है॥ २०॥

अपवादः

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्—

'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥'इति।

तथाहि—एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूतज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यञ्चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति ॥ २१ ॥

कार्यस्य कारणमात्रविशेषणमपवादः—अवस्तुनि सञ्जाताया वस्तुबुद्धेरपसारणपूर्वकं सत्यवस्तुमात्रस्थापनमिति भावः। यथा रज्जौ सर्पस्य शुक्तौ रजतस्य वा प्रतीतौ तदपसारणपूर्वकं रज्जुशुक्त्यन्यतरसत्यवस्तुमात्रज्ञापनमपवादः। एवमेव ब्रह्मरूपसत्यवस्तुनि या अज्ञानादिप्रपञ्चमिथ्याप्रतीतिस्तदपसारणपूर्वकं ब्रह्मरूपसत्यवस्तुज्ञापनमेवापवादः। यथार्थरूपेणावस्थिते वस्तुनि मिथ्याप्रतीतिरूपान्यथाभावो द्विधा भवति।

(१) परिणामभावेन (विकारभावेन) (२) विवर्तभावेन च

विवर्तः, अध्यास इति चानर्थान्तरम्, तत्र—(१) परिणामभावः—वस्तुनः स्वयथार्थरूपं परित्यज्य स्वरूपान्तरासत्तिः, परिणामः, यथा दुग्धस्य दधिरूपासक्तिः। (२) विवर्तभावः— वस्तुनः स्वरूपापरित्यागेन वस्त्वन्तरमिथ्याप्रतीतिर्विवर्तः, यथा रज्जावहेः, शुक्तौ रजतस्य वा प्रतीतिः। एतदेवोभयं निम्नलिखितकारिकायामित्थं प्रतिपादितम्—

स तत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः ॥

अयं सांसारिकप्रपञ्चो ब्रह्मणो विवर्तो न परिणामः। परिणामस्वीकारे ब्रह्मण्य-नित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। विवर्तस्वीकारे तु नायं दोषः। ब्रह्मरूपसत्यवस्तुनि प्रपञ्चस्य प्रतीतिर्मिथ्या; तामपसार्य ब्रह्ममात्रप्रतीतिरपवादः। स्वस्वकारणे सम्पूर्ण-सांसारिकप्रपञ्चविलयनप्रकारे सम्यग्ज्ञाते सति पूर्वोक्तमिथ्याप्रतीतिर्नश्यति ब्रह्ममात्रं चावशिनष्टि। अयमेव लयप्रकारो मूले तथाहीत्यादिना स्पष्टीकृतः—

दुःखसुखादिभोगायतनमेतच्चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातम्, तद्भोग्यरूपमन्न-पानादिकम्, तदाश्रयभूतं भूरादिचतुर्दशलोकसहितं भुवनत्रयम्, तदाधारभूतं ब्रह्माण्डञ्चैतत्सर्वं स्वकारणरूपपञ्चीकृतमहाभूतेषु विलीयते। तदनन्तरं शब्दादिविष-यसहितानि पञ्चीकृतमहाभूतानि सप्तदशावयवं सर्वं सूक्ष्मशरीरञ्च स्वकारणभूता-पञ्चीकृतमहाभूतेषु विलीयन्ते। ततः सत्त्वादिगुणसहितानि तानि सर्वापञ्चीकृतमहा-भूतानि स्वकारणभूतेऽज्ञानोपहितचैतन्ये विलीयन्ते। एतदज्ञानं तदुपहितं सर्वज्ञ-त्वादिगुणविशिष्टं चैतन्यमीश्वरादि चैतत्स्वाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपतुरीये ब्रह्मणि विलीयते। इत्थमन्ते सर्वं स्वस्मिन् समावेश्य ब्रह्ममात्रमवशिनष्टि॥

महाभारतीयशान्तिपर्वण्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणायं पृथिव्यादीनां परब्रह्मणि लयो 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे' इत्यारभ्य 'सम्प्रलीयते' इत्यन्तेन प्रतिपादितः॥ २१॥

किसी सत्यवस्तु में भ्रमवश जो असत्य वस्तु का अध्यारोप कर लिया जाता है उस भ्रम को हटा कर सत्यवस्तु मात्र का स्थापन करना (ज्ञान करना) अपवाद कहलाता है, जैसे रस्सी में सर्प की या शुक्ति में रजत की मिथ्या प्रतीति होने पर उसको दूर करके रस्सी या शुक्तिरूपी सत्यवस्तु का ज्ञान कराना अपवाद है। इसी प्रकार ब्रह्मरूपी सत्य वस्तु में जो अज्ञानादि प्रपञ्च की मिथ्या प्रतीति है उसे दूर करके ब्रह्मरूप सत्यवस्तु का भान कराना ही अपवाद है।

यह मिथ्या प्रतीतिरूप अन्यथाभाव दो प्रकार का होता है—

(१) परिणामभाव (विकारभाव) (२) विवर्तभाव

(१) परिणामभाव या विकारभाव—जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़ कर किसी दूसरे रूप को ग्रहण कर लेती है तो उसे परिणामभाव या विकारभाव कहते हैं जैसे दूध का दही रूप में परिणत हो जाना परिणामभाव या विकारभाव है।

(२) विवर्तभाव—किसी वस्तु में अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना विवर्तभाव कहलाता है जैसे रस्सी का स्वस्वरूपा-

परित्यागपूर्वक सर्परूप में मिथ्या प्रतीत होना विवर्त है, यही बात निम्नलिखित कारिका में इस प्रकार कही गई है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः ॥

यह सांसारिक प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं । क्योंकि यदि परिणाम माना जायगा तो ब्रह्म में भी अनित्यतादि दोष आ जायंगे। विवर्त मानने पर यह दोष नहीं क्योंकि ब्रह्मरूप सत्य वस्तु में प्रपञ्च की प्रतीति मिथ्या है । उसको हटाकर ब्रह्ममात्र का ही भान होना अपवाद है । जब इस बात का भली-भाँति ज्ञान हो जाता है कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च अपने-अपने कारणों में किस प्रकार लीन हो जाता है तो वह मिथ्या प्रतीति नष्ट हो जाती है और अन्त में ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है । इसी लय प्रकार को 'तथाहि' इत्यादि द्वारा मूल में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

दुःख-सुखादि भोगों के भोगने वाले चारो प्रकार के सब स्थूल शरीर इनके भोग्य रूप सब अन्न-पानादि तथा इनके आश्रयभूत भूः इत्यादि चतुर्दश लोक एवं तीन भुवन और उनके आधारभूत ब्रह्माण्ड ये सब अपने कारणरूप पञ्चीकृत महाभूतों में लीन हो जाते हैं । तदनन्तर शब्दादिकों के समेत सब पञ्चीकृत तथा सप्तदशावयव सब सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत महाभूतों में लीन हो जाते हैं । इसके बाद सत्त्वादि गुणों के समेत वे सब अपञ्चीकृत महाभूत अपने कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्य में लीन होकर तन्मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यह अज्ञान तथा अज्ञानोपहित सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्ट चैतन्य ईश्वरादि अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्यरूपतुरीय ब्रह्म में लीन हो जाता है ॥ २१ ॥

महाभारत शान्तिपर्व में उत्पत्ति व्युत्क्रम से पृथिव्यादि का परब्रह्म में लय निम्नलिखित रूप में वर्णित है :—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे, पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते ॥ (म भा.शा प. १२८–१३–१५)

\+ + +

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः । (कठ० ३।११)

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि। अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहितालपज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति ॥ २२ ॥

इत्थमारोपापवादाभ्यां जगति तत्कारणे ब्रह्मणि च सम्यङ्निरूपिते सति श्वेतकेतुम्प्रत्युक्तयोरुद्दालकर्षेः 'तत्त्वमसीति' वाक्यान्तर्गततत्त्वं-पदयोः परिशुद्धिरपि सञ्जायते; तथाहि-अज्ञान-स्थूल-सूक्ष्मशरीरसमष्टिस्तदुपहितचैतन्यम्, सार्वज्ञत्वादिविशिष्टेश्वरसूत्रात्मवैश्वानरचैतन्यं तथा एतदनुपहितचैतन्यम्-तुरीयं ब्रह्म चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं (तत्त्वमसीति महावाक्यान्तर्गत) तत्पदवाच्यार्थो भवति तथा अज्ञानाद्यवच्छिन्नेश्वरादिचैतन्याधारभूतानुपहितचैतन्यम्, अज्ञानाद्यवच्छिन्नेश्वरादिचैतन्याद्भिन्नत्वेनावभासमानं, तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। एवमेवाज्ञानादिव्यष्टिस्तदवच्छिन्नप्राज्ञादिचैतन्यम्, तदनुपहितचैतन्यञ्चेत्येतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदभिन्नत्वेनावभासमानं (तत्त्वमसीति महावाक्यान्तर्गत) त्वं-पदवाच्यार्थो भवति तथा अज्ञानादिव्यष्टिस्तदवच्छिन्नप्राज्ञादि चैतन्यं तथा तदाधारभूतमनुपहितप्रत्यगात्मतुरीयचैतन्यञ्चैतत्त्रयं भिन्नत्वेनावभासमानं सत् त्वं-पदलक्ष्यार्थो भवति।

इदमत्रावधेयम्—तत्त्वं पदयोर्वाच्यार्थलक्ष्यार्थरूपा प्रत्येकमर्थद्वयी। तत्राज्ञानादिसमष्टिस्तथा तदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमीश्वरहिरण्यगर्भवैश्वानरचैतन्यमेवमेतदनुपहितं यदक्षरं चिन्मात्रमेतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तमिति तत्पदवाच्यार्थः, तथा अज्ञानतत्कार्यसमस्तप्रपञ्चेषु सत्तास्फूर्तिप्रदायकत्वेन सर्वत्रानुस्यूतमिति ततो भिन्नमीश्वरादिचैतन्याधारभूतं यदानन्दस्वरूपमनुपहितचैतन्यं तत् तत्पदलक्ष्यार्थः।

एवमेवाज्ञानादिव्यष्टिस्तथा तदुपहितमल्पज्ञत्वादिविशिष्टं यत्प्राज्ञतैजसविश्वचैतन्यमेवमेतदाधारभूतं यदनुपहितचैतन्यमेतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तमिति त्वंपदवाच्यार्थः, तथा अज्ञानादिव्यष्टिस्तदुपाध्युपहितं यत्प्राज्ञतैजसविश्वचैतन्यं तदाधारभूतं यदनुपहितप्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं तद्विविक्तमिति त्वंपदलक्ष्यार्थः। इत्थमनु-

पहितं चैतन्यं (शुद्धचैतन्यम्) तत्त्वमित्युभयोः पदयोर्लक्ष्यार्थः । अतएव तत्त्वमिति पदद्वयं लक्षणं शुद्धचैतन्यञ्च लक्ष्यमिति तत्त्वम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार अध्यारोप और अपवाद के द्वारा जव यह वात विल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म है एवं ब्रह्म ही यह सब नाम-रूपात्मक जगत् है तो छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक ऋषि के द्वारा श्वेतकेतु से कहे हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत् (वह परब्रह्म-शुद्ध चैतन्य) और त्वं (व्यष्टिभूताज्ञानोपहितचैतन्य) का तात्पर्य भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है अर्थात् अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म, स्थूलशरीर की समष्टि, तदुपहित चैतन्य—सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर चैतन्य तथा एतदनुपहितचैतन्य (तुरीय-चैतन्य) इन सबका तप्तायः पिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना 'तत्' पद का वाच्यार्थ है; तथा अज्ञानावच्छिन्न ईश्वर चैतन्य का आधारभूत जो अनुप-हित चैतन्य उसका, अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वर चैतन्य से विविक्त होकर भिन्न-भिन्न अवभासित होना तत्पद का लक्ष्य अर्थ है ।

इसी प्रकार अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ, तैजस तथा विश्वचैतन्य और तदनुपहित चैतन्य इन तीनों का तप्तायः पिण्ड के समान अभेद विवक्षा में एक रूप से अवभासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है तथा व्यष्टिभूत जो अज्ञान आदि एवं तदुपहित जीव चैतन्य तथा इनका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगात्मकतुरीय चैतन्य इन सबका भेद विवक्षा में अलग-अलग प्रतीयमान होना 'त्वम्' पद का लक्ष्य अर्थ है ।

तात्पर्य यह कि तत् और त्वं पदों में से प्रत्येक के दो-दो अर्थ हैं—एक वाच्यार्थ दूसरा लक्ष्यार्थ । अज्ञानसमष्टि तथा तदवच्छिन्न ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानरचैतन्य तथा इनसे अनुपहित जो अक्षर, चिन्मात्र ये तीनों तप्तायःपिण्ड के समान एक ही हैं यह तत् शब्द का वाच्यार्थ है तथा अज्ञान (माया) और उसके कार्य रूप समस्त प्रपञ्च को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करनेवाली ईश्वरादि चैतन्य की आधारभूत जो चेतन एवं आनन्दस्वरूप अनुपहित चैतन्य वस्तु वह तत्पद का लक्ष्य अर्थ है । इसी प्रकार व्यष्टिभूत अज्ञान तथा तदवच्छिन्न अल्पज्ञ-त्वादि विशिष्ट जो प्राज्ञ, तैजस एवं विश्वचैतन्य और इनका आधारभूत जो अनुप-हित चैतन्य ये तीनों तप्तायःपिण्ड के समान एक ही हैं यह त्वं पद का वाच्य

अर्थ है तथा अज्ञानादि उपाधियों से उपहित जो प्राज्ञ, तैजस और विश्व तथा इनका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगानन्द तुरीय चैतन्य ये अलग हैं यह त्वं पद का लक्ष्य अर्थ है। इस प्रकार अनुपहित चैतन्य (शुद्ध चैतन्य) तत् और त्वम् इन दोनों पदों का लक्ष्य अर्थ है इसी कारण तत् और त्वम् ये दोनों लक्षण हैं और शुद्ध चैतन्य लक्ष्य है ॥ २२ ॥

महावाक्यार्थः

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम् :—

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्' इति ॥

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वंपदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥ २३ ॥

वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणत्वात् 'तत्त्वमसि' इति वाक्यार्थं प्रतिपिपादयिषुर्ग्रन्थकारः पूर्वं तत्त्वमसीति महावाक्यान्तर्गततत्त्वं पदार्थं सप्रपञ्चं निरूप्याधुना तत्त्वमसीति महावाक्यार्थं निरूपयितुमाह अथेति।

जीवोऽल्पज्ञः, ईश्वरश्च सर्वज्ञ इत्यनयोः परस्परमतितरां भिन्नत्वेन तदैक्यप्रतिपादकतत्त्वमसीति वाक्यस्यापि विरुद्धार्थकत्वात्कथमखण्डैकरसब्रह्मणः प्रतिपादकत्वमित्यत आह—इदमिति। तत्त्वमसीति वाक्यस्य साक्षादखण्डैकरसब्रह्मणः प्रतिपादकत्वाभावेऽपि लक्षणया सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थप्रतिपादकत्वमिति भावः। तच्च सम्बन्धत्रयमेतत्—

(१) पदयोः (तत्-त्वं-पदयोः) सामानाधिकरण्यम्;

(२) पदार्थयोः (परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्ययोः) विशेषणविशेष्यभावः।

(३) परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वरूपविरुद्धांशपरित्यागपूर्वकतत्त्वंपदलक्ष्याविरुद्धचैतन्येन सह तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा लक्ष्यलक्षणभावः।

परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यावबोधकतच्छब्दस्य तथा अपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यावबोधकत्वंशब्दस्य च यः परोक्षत्वापरोक्षत्वसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिरूपो विरुद्धोंऽशस्तत्परित्यागपूर्वकं तत्त्वंपदे पदार्थौ वाऽखण्डमेव लक्षयत इति तयोर्लक्षणत्वम्। अखण्डचैतन्यञ्च ताभ्यां लक्ष्यते इति तस्य लक्ष्यत्वम्। नैष्कर्म्यसिद्धावेतदेव 'सामानाधिकरण्यञ्चे'त्यादिना प्रतिपादितम्। सम्बन्धत्रयेण चैतत्तत्त्वमसीति वाक्यं यथाऽखण्डार्थं प्रतिपादयति तत् 'सोऽयं देवदत्त' इति लौकिकोदाहृत्या सहेह निर्दिश्यते—

(१) समानाधिकरणसम्बन्धः—भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यम्। तच्च सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये इत्थं सङ्घटते—अत्र सः, अयम्, देवदत्त इति पदत्रयम्। तत्र स-शब्दस्य तत्कालतद्देशविशिष्टरूपेऽर्थे प्रवृत्तिः। अयं-शब्दस्य चैतत्कालैतद्देशविशिष्टरूपेऽर्थे प्रवृत्तिः। एवमुभयोः शब्दयोर्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वम्। तयोश्चोभयोः पदयोर्देवदत्तरूपैकव्यक्तिबोधने एव तात्पर्यमिति भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरपि तदिदंशब्दयोरेकार्थावबोधनतात्पर्येणोच्चरितत्वादुभयोः सामानाधिकरण्यम्। एवमेव तत् (अखण्डचैतन्यम्) त्वमसीत्यर्थके तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टरूपेऽर्थे तत्पदस्य प्रवृत्तिः, अपरोक्षत्व-

किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टरूपेऽर्थे च त्वंपदस्य प्रवृत्तिः। एवं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरपि तत्त्वंपदयोरेकाखण्डचैतन्यावबोधनतात्पर्येणोच्चरितत्वादुभयोः सामानाधिकरण्यम्। इत्थं सामानाधिकरणसम्बन्धेन तत्पदं त्वंपदञ्चैकमेवाखण्डचैतन्यं बोधयतः।

(२) विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः—व्यवच्छेदकम् (व्यावर्तकम्) विशेषणम्। व्यवच्छेद्यञ्च (व्यावर्त्यञ्च) विशेष्यम्। इत्थञ्च 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये अयंशब्दवाच्यो योऽयमेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टो देवदत्तः सः स इति तच्छब्दवाच्यतत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टदेवदत्ताद्भिन्नो नेति यदा बोधो भवति तदा तच्छब्दार्थस्येदंशब्दनिष्ठभेदव्यवच्छेदकत्वेन विशेषणत्वम्, अयंशब्दार्थस्य च व्यवच्छेद्यत्वाद्विशेष्यत्वम् इत्ययं स एव देवदत्त इत्यर्थावगमात् तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टदेवदत्तादन्यो देवदत्तो व्यवच्छिद्यते। एवमेव स इति तच्छब्दवाच्यस्तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टो यो देवदत्तः सः अयमितीदंशब्दवाच्यादेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टाद्देवदत्तादन्यो नेति यदा प्रतीतिस्तदा इदंशब्दार्थस्य तच्छब्दार्थनिष्ठभेदव्यवच्छेदकतया अयमेव स इत्यर्थावगमादयंशब्दस्य विशेषणत्वम्, सशब्दार्थस्य च व्यवच्छेद्यतया विशेष्यत्वमिति पारस्परिकभेदव्यावर्तकतया इदंशब्दस्तच्छब्दश्च 'अयमेव सः, स एवायम्' इत्थमन्योऽन्यविशेषणविशेष्यभावसम्बन्धेन देवदत्तपिण्डरूपमेकमेवार्थमवगमयतोऽतस्तयोर्विशेषणविशेष्यभावः।

तत्त्वमसीति वाक्ये त्वयं सम्बन्ध इत्थम्-त्वंपदवाच्यं यदपरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यं तत् तत्पदवाच्यात्सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यादन्यन्नेति यदा प्रतीतिस्तदा तच्छब्दार्थस्य त्वंपदार्थनिष्ठभेदव्यवच्छेदकतया विशेषणत्वम्, त्वंपदार्थस्य च व्यवच्छेद्यत्वात् विशेष्यत्वम्। एवं त्वं तदेव चैतन्यमसीत्यर्थावगमः। तथा च तत्पदवाच्यं यत्सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यं तत्त्वंपदवाच्यादल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्याद्भिन्नं नेति यदा बोधस्तदा त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थनिष्ठभेदव्यवच्छेदकत्वेन विशेषणत्वम्, तत्पदार्थस्य व्यवच्छेद्यत्वाद्विशेष्यत्वमिति तच्चैतन्यं त्वमेवासीत्यर्थावगमः। इत्थञ्च तत्त्वमसीत्यत्र तत्त्वमित्युभयोः पदार्थयोः 'त्वं तदसि, तत्त्वमसि' इत्यनया रीत्या पारस्परिकभेदव्यावर्तकत्वेन तच्छब्दस्त्वंशब्दश्चैकमेव चैतन्यमवगमयतोऽतो द्वयोर्विशेषणविशेष्यभावः।

(३) लक्ष्यलक्षणभावः—सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टैतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टरूपविरुद्धांशपरित्यागेन सोऽयंशब्दयोस्तदर्थ-

योर्वाऽविरुद्धदेवदत्तपिण्डेन सह लक्ष्यलक्षणभावः अर्थात्—उक्तवाक्ये तच्छब्दस्य तत्कालतद्देशविशिष्टरूपोऽर्थः, इदंशब्दस्य चैतत्कालैतद्देशविशिष्टरूपोऽर्थं इत्यनयोर्विरुद्धार्थकत्वेऽपि तत्कालतद्देशैतत्कालैतद्देशरूपविरुद्धांशपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तपिण्डरूपैकार्थाविबोधकतया सोऽयंपदयोर्लक्षणत्वम्, देवदत्तपिण्डस्य च लक्ष्यत्वम् । एवं तत्त्वमसीत्यत्रापि तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा परोक्षत्वापरोक्षत्वसर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिरूपविरुद्धांशपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः । त्यक्तविरुद्धांशयोस्तत्त्वंपदयोः पदार्थयोर्वा लक्षणत्वम्, अखण्डचैतन्यस्य च लक्ष्यत्वमिति तत्त्वम् । इत्थमत्र विरुद्धांशपरित्यागेन यदविरुद्धचैतन्यावबोधकत्वं तत्केवलं संज्ञाभेदेन भागलक्षणा जहदजहल्लक्षणा वा उच्यते ॥ २३ ॥

महावाक्यार्थनिरूपण—वाक्यार्थज्ञान में पदार्थज्ञान कारण होता है—किसी भी वाक्य का अर्थ जानना हो तो पहले उसके प्रत्येक पद के अर्थ का जानना आवश्यक है । अतः यहाँ तक 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में प्रयुक्त होने वाले तत् और त्वम् इन पदों के अर्थ का निरूपण किया गया अब आगे 'तत्त्वमसि' इस सम्पूर्णवाक्य के अर्थ का निरूपण करते हैं ।

जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है, इन दोनों की परस्पर अतीव भिन्नता है । अतः इनकी एकता के प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य भी परस्पर विरुद्धार्थक होने के कारण अखण्डैकरस ब्रह्म का प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं ? इस सन्देह को इदं त्वमसि—इत्यादि के द्वारा दूर करते हैं अर्थात् तत्त्वमसि यह वाक्य साक्षात् अखण्ड ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करता किन्तु लक्षणाशक्ति के द्वारा तीन सम्बन्धों से यह अखण्डैकार्थ प्रतिपादन करता है । वे तीन सम्बन्ध निम्नलिखित हैं :—

(१) पदों का अर्थात् तत् और त्वम् पदों का सामानाधिकरण्य;

(२) पदार्थों का अर्थात् तत् पदार्थ—परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य तथा त्वम् पदार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध;

(३) परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वरूपविरुद्धांश से रहित तत् और त्वम् पदों या पदार्थों का अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध । तात्पर्य यह कि प्रत्यगात्मलक्षण अर्थात् जीव चैतन्य तथा शुद्ध चैतन्य के बोधक जो त्वम् और तत् पद उनका अखण्ड चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है—

परोक्षत्व सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य के लक्षण (बोधकरानेवाले) तत् शब्द तथा अपरोक्षत्व–किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य के लक्षण (बोधकरानेवाले) त्वं शब्द में जो परोक्षत्वापरोक्षत्व तथा सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादि विरुद्ध अंश है उससे रहित ये दोनों पद, पदार्थ अखण्डचैतन्य के लक्षण हैं और अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है।

इस प्रकार इन तीनों सम्बन्धों से 'तत्त्वमसि' यह वाक्य उसी एक अखण्ड अर्थ (ब्रह्म) का प्रतिपादक है। यही बात नैष्कर्म्यसिद्धि में 'सामानाधिकरण्यञ्च' " इत्यादिरूप से कही गई है। इन तीनों सम्बन्धों के द्वारा तत्त्वमसि यह वाक्य किसी प्रकार अखण्ड अर्थ का प्रतिपादक है इसका विवेचन 'सोऽयं देवदत्तः' इस लौकिक उदाहरण के साथ नीचे किया जाता है।

(१) समानाधिकरणसम्बन्ध—भिन्न-भिन्न अर्थवाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यावबोध करानेवाला सम्बन्ध समानाधिकरणसम्बन्ध कहलाता है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत् पद का तत्काल-तद्देश-विशिष्टरूप अर्थ है तथा अयं शब्द का एतत्काल-एतद्देश-विशिष्टरूप अर्थ है, इन दोनों पदों का देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ प्रकट करना तात्पर्य है अतः इस तात्पर्य का अवबोधक सम्बन्ध समानाधिकरण सम्बन्ध हुआ।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' पद का परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादि-विशिष्टरूप अर्थ है तथा त्वं पद का अपरोक्षत्व किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टरूप अर्थ है और इन दोनों पदों का एक ही चैतन्यरूप अर्थ के बोध कराने में तात्पर्य है। अतः इस तात्पर्य का अवबोधक सम्बन्ध समानाधिकरण सम्बन्ध हुआ। इस प्रकार समानाधिकरण सम्बन्ध के द्वारा तत् और त्वम् ये दोनों पद एक ही अखण्ड अर्थ ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं।

(२) विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध—जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों से व्यावृत्त कर देता है उसे विशेषण कहते हैं और जो शब्द व्यावृत हो जाता है उसे विशेष्य कहते हैं। सोऽयं देवदत्तः–इस वाक्य में अयं शब्द-वाच्य जो यह एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट देवदत्त है वह 'सः' इस तत् शब्दवाच्य तत्काल तद्देशविशिष्ट देवदत्त पिण्ड से भिन्न नहीं है जब इस प्रकार का बोध होता है तो तत् शब्द इदं शब्द का विशेषण है और इदं शब्द तत् शब्द का विशेष्य है।

अतः 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार का बोध होता है और तत्काल-तद्देशविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है।

इसी प्रकार तत्शब्दवाच्य-तत्काल-तद्देशविशिष्ट जो देवदत्त वह इदंशब्द-वाच्य एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं अर्थात् 'यही वह' देवदत्त है जब यह अर्थ प्रतीत होता है तो अयं शब्द सः शब्द का विशेषण है और 'सः' शब्द विशेष्य है। अतः परस्पर भेद व्यावर्तक होने के कारण 'स एवायम्, अयमेव सः' इस प्रकार सः और अयम् दोनों एक दूसरे के विशेषणविशेष्य हो जाते हैं और इस विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध के द्वारा देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'त्वम्' पदवाच्य जो अपरोक्षत्व किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य वह 'तत्' पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं जब यह बोध होता है तब तत्शब्दार्थ त्वंपदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण है और 'त्वम्' पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है एवं 'तत्' पदवाच्य जो सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य वह 'त्वम्' पदवाच्य अल्पज्ञत्वादि-विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं जब यह प्रतीति होती है तब 'त्वम्' पदार्थ तत्पदार्थ-निष्ठ भेद का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण है तथा तत्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। इस विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध के द्वारा तत् और त्वं ये दोनों पद चैतन्यरूप एक ही अर्थ के बोधक होने के कारण 'वही तू, तू ही वह' ऐसी प्रतीति होती है।

(३) लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध—'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत्काल तद्देशविशिष्ट तथा एतत्काल-एतद्देश-विशिष्टरूप विरुद्ध अर्थ के परित्याग द्वारा 'सः' और 'अयं' शब्द अविरुद्ध देवदत्तत्वविशिष्टदेवदत्त पिण्ड के साथ-साथ देवदत्तत्व-विशिष्ट देवदत्तशब्दको लक्षित करते हैं अतः इनका लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध है—'सः' शब्द का तत्कालतद्देशविशिष्टरूप अर्थ है; 'अयं' शब्द का एतत्काल, एतद्देश-विशिष्टरूप अर्थ है इस प्रकार ये दोनों विरुद्धार्थक हैं, जो तत्काल-तद्देशविशिष्ट है वह एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट कैसे हो सकता है ? किन्तु ये दोनों देवदत्तरूपी एक ही पिण्ड का बोध कराते हैं अतः देवदत्तरूप अर्थ के बोध कराने में इन दोनों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं क्योंकि 'सः' शब्द भी देवदत्त का बोधक है और

'अयं' शब्द भी देवदत्त का ही बोधक है। इसलिए तत्काल-तद्देश एवं एतत्काल-एतद्देशरूपविरुद्धांश का परित्याग कर देने से दोनों पद देवदत्तपिण्डरूप एक ही अर्थ के बोधक रह जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों का लक्ष्यलक्षणभाव संगत होता है अर्थात् 'सः' और 'अयं' पद लक्षण हैं एवं अविरुद्ध देवदत्तपिण्ड लक्ष्य है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों या पदार्थों का सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिरूप विरुद्धांश परित्याग कर देने से अखण्ड चैतन्य के साथ पारस्परिक लक्ष्यलक्षणभाव संगत होता है अर्थात् 'तत्' और 'त्वं' पद लक्षण हैं एवं अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है।

इसी लक्ष्यलक्षणभाव को भागलक्षणा भी कहते हैं अर्थात् 'तत्त्वमस्यादि-वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा' इत्यादि शास्त्रीयस्थलों में जो भागलक्षणा के द्वारा चैतन्यावबोध कराया गया है वह इसी का नामान्तर मात्र है। इसी को जहदजहल्लक्षणा भी कहते हैं अर्थात् जिसमें कुछ अंश त्याग दिया जाय और कुछ अंश ग्रहण कर लिया जाय उसे भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा कहते हैं 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'तत्' शब्द का सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है; 'त्वम्' शब्द का अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है। इन दोनों के विरुद्धांश अल्पज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिरूप भाग को त्याग कर चैतन्यांशमात्र का ग्रहण किया जाता है तभी 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों एक अखण्ड (अविरुद्ध) चैतन्य के बोधक होते हैं।

अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते, अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥ २४ ॥

ननु यथा नीलोत्पलमित्यत्र नीलगुणस्योत्पलद्रव्यस्य च स्वव्यतिरिक्तशुक्लादि-गुणान्तरपटादिद्रव्यान्तरव्यावर्तकत्वेन विशेषणविशेष्यभावनिरूपिततद्भिन्नसंसर्गो वाक्यार्थः (नीलमुत्पलमित्यनयोर्विशेषणविशेष्यभावरूपेण संसर्गेण वाक्यार्थावबोधः) नीलगुणविशिष्टं यत्तदेवोत्पलमित्येवंविशिष्टो वा वाक्यार्थावबोधस्तथा 'तत्त्वमसी'ति वाक्येऽपि परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य तत्पदार्थस्य, अपरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य त्वंपदार्थस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया, तत् अर्थात् परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यम् त्वम् अर्थात् अपरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्ट-जीवचैतन्यम् , अथ च त्वम् (अपरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यम्) तत् (परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यम्) असि; एवमन्योन्यविशेषणीभूतसर्वज्ञत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वोभयनिरूपितसंसर्गः, यत्सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं तदेवाल्पज्ञत्वादिविशिष्टमेवं यदल्पज्ञत्वादिविशिष्टं तदेव सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमेवं विशिष्टो वा वाक्यार्थः कथं नेत्यत आह—अस्मिन्निति । नीलोत्पलमिति दृष्टान्तवाक्ये 'तत्त्वमसी'ति दार्ष्टा-न्तिकवाक्ये च महानेव भेद इति नीलोत्पलवदिह तत्त्वमसीत्यत्र संसर्गः, विशिष्टो वा वाक्यार्थो न सङ्गच्छते इति भावः। यतो हि नीलोत्पलमित्यत्र 'नीलम्' इति गुणः, उत्पलमि'ति च द्रव्यम् (गुणी) अतो गुणगुणिनोस्तयोर्विशेषणविशेष्यभाव-संसर्गः, नीलगुणविशिष्टं यत्तदेवोत्पलद्रव्यम् इति नीलगुणविशिष्टस्योत्पलद्रव्यस्य चैकतारूपविशिष्टो वा वाक्यार्थः सङ्गच्छते किन्तु 'तत्त्वमसी'ति वाक्ये तत्पदं त्वं पदञ्चोभयं द्रव्यमिति संसर्गो वा विशिष्टो वा संसर्गविशिष्टयोरन्यतरः उभयो वा सम्बन्धो वक्तुं न शक्यते द्वयोर्द्रव्ययोर्विशेषणविशेष्यसंसर्गासम्भवात् , परोक्षत्वादि-विशिष्टं यत्तदेवापरोक्षत्वादिविशिष्टमित्येवं विशिष्टार्थकल्पने विरोधस्य प्रत्यक्षत्वाच्चे'-तिपूर्वोक्तविशेषणविशेष्यभावप्रकारेणैव 'तत्त्वमसी'ति वाक्यमविरुद्धचैतन्यं बोधयति। 'संसर्गो वा विशिष्टो वा' इति पञ्चदशी-कारिकाऽपीदमेवं समर्थयति ॥ २४ ॥

'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'नीलम्' उत्पलम् इस वाक्य की तरह विशेषणविशेष्य भाव नहीं हो सकता क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' और 'तत्त्वमसि' इन दोनों वाक्यों में अन्तर है। नीलमुत्पलम् में नील गुण है और उत्पल गुणी (द्रव्य) है। अतः इन दोनों (गुण-गुणी) का विशेषण-विशेष्यभाव संसर्ग या जो नीलगुण-विशिष्ट है वही उत्पल है इस प्रकार इन दोनों का विशिष्ट वाक्यार्थ स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं-वहां संसर्ग या विशिष्ट वाक्यार्थ ठीक है, किन्तु तत्त्वमसि इस वाक्य में

'तत्' और 'त्वं' ये दोनों द्रव्य हैं अतः यहां पर संसर्ग या विशिष्ट वाक्यार्थ सम्भव नहीं क्योंकि तत्पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और त्वं-पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य। इस कारण दो द्रव्यों का विशेषण-विशेष्यभावरूप संसर्ग या जो 'नीलगुण विशिष्ट वही उत्पल' की तरह 'परोक्षत्वादिविशिष्ट जो चैतन्य वही अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' इस प्रकार विशिष्ट वाक्यार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि जो तत्पदवाच्य परोक्षत्वादिविशिष्ट सर्वज्ञ चैतन्य है वह 'त्वं' पदवाच्य अपरोक्षत्वादिविशिष्ट अल्पज्ञजीव चैतन्य नहीं हो सकता। इस कारण पूर्वोक्त 'सामानाधिकरण्यम्—इत्यादि के द्वारा 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य अखण्डैकरस ब्रह्म का बोधक है। 'संसर्गो वा विशिष्टो वा'—इत्यादि यह पञ्चदशी की कारिका यही बात स्पष्ट करती है ॥ २४ ॥

अत्र 'गंगायां घोषः प्रतिवसती'ति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गंगाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते। अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते। न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षामपि तत्त्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात् ॥ २५ ॥

[१] जहल्लक्षणानिराकृतिः—ननु 'गंगायां घोष' इत्यत्रेव 'तत्त्वमसी'त्यत्रापि जहल्लक्षणयैवाखण्डैकरसब्रह्मबोधसम्भवे किमिह भागलक्षणयेत्यत आह—'अत्र गंगायां घोष' इति—अर्थात् मुख्यार्थबाधे वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा' इति तल्लक्षणम्; सा च तत्रैव भवति यत्र मुख्यार्थबाधः। यथा 'गंगायां घोष' इत्यत्र गंगाशब्दस्य प्रवाहरूपोऽर्थः, घोषस्य चाभीरपल्लीरूपोऽर्थः। अनयोराधाराधेयभावो न सम्भवति, प्रवाहे घोषवसनस्य सर्वथाऽसम्भवादिति मुख्यार्थबाधः। अतः गंगाशब्दः प्रवाहरूपमर्थमशेषतः परित्यजंस्तत्सम्बन्धितीर-

रूपार्थान्तरं लक्षयति इति 'गंगातीरे घोष' इत्यर्थोपपत्तिरतस्तत्र जहल्लक्षणा युक्ता। 'तत्त्वमसी'त्यत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य न सर्वथा विरोधोऽपि तु परोक्षापरोक्षत्वप्रतिपादकत्वरूपभागमात्रे विरोधश्चैतन्यैकत्वांशे चाविरोध इति तच्छब्दे त्वंशब्दे वाऽशेषतो मुख्यार्थबाधासम्भवात्परोक्षत्वापरोक्षत्वप्रतिपादकत्व-रूपविरोधांशपरित्यागेऽपि चैतन्यैकत्वरूपाविरुद्धांशस्य तादवस्थ्याज्जहल्लक्षणया चैतन्यैकत्वबोधनासम्भवाद्भागलक्षणैव युक्ता।

ननु यथा 'गंगायां घोषः' इत्यत्र गंगापदं प्रवाहरूपं स्वार्थं परित्यज्य तत्सम्ब-न्धितीरपदार्थं लक्षणया बोधयति तथैव 'तत्त्वमसीति' वाक्ये तत्पदं परोक्षत्वादिवि-शिष्टरूपं स्वार्थं परित्यज्य जीवचैतन्यं लक्षणया बोधयतु; एवमेव त्वंपदमपि किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टरूपं स्वार्थं परित्यज्येश्वरचैतन्यं लक्षणया बोधयत्विति जहल्ल-क्षणायाः सर्वथा सम्भव इति चेन्न; श्रुतस्य मुख्यार्थबाधे सति तत्सम्बन्धिन्यश्रुत-पदार्थे एव लक्षणायाः सर्वजनसम्मतत्वाद् 'गंगायां घोषः' इत्यत्र च गंगाघोषयोराधा-राधेयभावसंबन्धविरोधे (मुख्यार्थबाधे) तीरपदाश्रवणेन च तदर्थाप्रतीतौ श्रुतेन गंगापदेन जहल्लक्षणया तत्सम्बन्ध्यश्रुततीरपदार्थस्य प्रतीतिः। 'तत्त्वमसी'त्यत्र तु तत्पदं त्वंपदञ्चोभयं श्रूयमाणमिति ताभ्यां मुख्यतयैव सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्ट-रूपतदर्थप्रतीतौ मुख्यार्थबाधासम्भवाल्लक्षणया तत्पदेन त्वंपदार्थस्य त्वंपदेन च तत्पदार्थस्य वा प्रतीतेरपेक्षाभावाज्जहल्लक्षणाऽसम्भूतेः॥ २५॥

['तत्त्वमसि' यह वाक्य जहदजहल्लक्षणा के द्वारा अखण्डचैतन्य का बोधक है यह बात पहले कही गई है अतः यहाँ पर जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा का क्रमशः निराकरण करके अन्त में जहदजहल्लक्षणा का पक्ष स्थापित किया जाता है]

(१) जहल्लक्षणा का निराकरण—जहाँ पर पद अपने सम्पूर्ण अर्थ को छोड़ कर अपने से सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ को सूचित करने लगता है वहाँ जहल्लक्षणा होती है। 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर गंगा शब्द का प्रवाह रूप अर्थ है किन्तु उसमें घोष की स्थिति उपपन्न नहीं हो सकती। अतः गंगा शब्द अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा त्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से तीर अर्थ का बोधक हो जाता है। इस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर 'गङ्गायास्तीरे घोषः' यह अर्थ प्रकट करने के लिये जहल्लक्षणा मानना ठीक है क्योंकि गङ्गा में घोष होनारूप जो वाक्यार्थ है वह सर्वथा विरुद्ध है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि तत्पदवाच्य

परोक्षत्वादिविशिष्टसर्वज्ञ चैतन्य, त्वं-पदवाच्य अल्पज्ञ चैतन्य नहीं हो सकता और न अपरोक्षत्वादिविशिष्ट जीव चैतन्य सर्वज्ञ चैतन्य ही हो सकता अतः 'गङ्गायां घोषः' की तरह यहाँ भी वाक्यार्थ अनुपपन्न है इसलिये उसी तरह यहाँ भी तत्पद की त्वं पद में या त्वं पद की तत्पद में लक्षणा मान ली जाय जिससे कि दोनों पद अखण्डैकचैतन्य रूप अर्थ के बोधक हो जायें तो यह बात ठीक नहीं हो सकती क्योंकि जहल्लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ शब्द अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा छोड़ देता है। यहाँ पर तत्पद या त्वं पद अपने मुख्य अर्थ (चैतन्य) का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकते क्योंकि उस अंश में कोई विरोध नहीं प्रत्युत परोक्षत्वा-परोक्षत्वादि रूप एक भाग ही में विरोध है और उस विरुद्ध वाक्यार्थ के साथ चैतन्यरूप अविरुद्ध वाक्यार्थ को भी त्याग कर लक्षणा मानी जाय ऐसा समुचित नहीं। इसलिये 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जहल्लक्षणा के द्वारा अखण्ड अर्थ (जीव-ब्रह्मैक्य) का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार गङ्गा पद अपने अर्थ का परित्याग करके तीर पद के अर्थ को लक्षित करता है उसी प्रकार तत्पद अपने परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ को छोड़ कर जीव चैतन्य का लक्षणा द्वारा बोध करे अथवा त्वं पद अपने किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ को छोड़कर ईश्वर चैतन्य को लक्षणा द्वारा बोधित करे अतः जहल्लक्षणा कैसे नहीं हो सकती ? तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर तीर पद नहीं है अतः उसके अर्थ की प्रतीति न होने के कारण लक्षणा द्वारा काम चलाना पड़ता है किन्तु यहाँ पर (तत्त्वमसि) तो तत् पद और त्वं पद दोनों ही वर्तमान हैं अतः उनके द्वारा ही उनके अर्थ की भी प्रतीति हो रही है। इसलिए लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ के बोध कराने की कोई आवश्यकता नहीं ॥ २५ ॥

अत्र 'शोणः धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव। न च

तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम् । एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥ २६ ॥

(२) अजहल्लक्षणानिराकृतिः—ननु 'शोणो धावती'त्यत्रेव 'तत्त्वमसी'त्यत्राप्यजहल्लक्षणयैवाखण्डार्थप्रतीतिः स्यादिति चेन्न, वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनिवृत्तिरजहल्लक्षणेति तल्लक्षणेन 'शोणो धावती'त्यत्र शोणगुणस्य धावनासम्भवान्मुख्यार्थबाधे सति श्रूयमाणशोणपदस्य शोणगुणरूपस्ववाच्यार्थापरित्यागेन तदाश्रयाश्वादौ लक्षणया मुख्यार्थविरोधो वार्यते । 'तत्त्वमसी'त्यत्र तु परोक्षापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वरूपमुख्यवाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागपूर्वकं परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यावबोधकतच्छब्देनापरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यावबोधकत्वंशब्देन परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य वा लक्षितत्वेऽपि परोक्षत्वापरोक्षत्वादिरूपविरोधस्य तादवस्थ्यादजहल्लक्षणानुपयुक्तेः ।

ननु तत्त्वं-पदयोः परोक्षत्वापरोक्षत्वाद्यंशे विरोधश्चैतन्यांशे चोभयोरविरोध इत्यविरुद्धचैतन्यांशसहितं किन्तु परित्यक्तपरोक्षत्वादिधर्मरूपविरुद्धांशं तत्पदमपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टं जीवचैतन्यं लक्षयतु; एवमेवोभयसामान्यचैतन्यांशसहितं परित्यक्तापरोक्षत्वादिधर्मरूपविरुद्धांशञ्च त्वंपदं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमीश्वरचैतन्यं वा लक्षयत्विति किं भागलक्षणयेति चेन्न; एकेनैव तत्पदेन परित्यक्तस्य विरुद्धांशपरोक्षत्वादिरूपार्थस्य चैतन्यरूपान्यतरपदार्थस्य च बोधनायोभयलक्षणाया असम्भवात् । अतः 'शोणो धावती'त्यत्र यथा शोणशब्दः स्वार्थबोधनपूर्वकं लक्षणया नीलपीताद्यर्थावबोधनासमर्थस्तथैवात्र तत्त्वं-पदयोरन्यतरल्लक्षणया स्वार्थपरार्थोभयावबोधनासमर्थम् । किञ्च; इह यदा तत्पदं त्वं-पदञ्चोभयं श्रूयमाणं तदा ताभ्यामभिधयैव तदर्थप्रतीतौ लक्षणयाऽन्यतरपदेनान्यतरार्थस्य प्रतीत्यपेक्षाभाव इति यथापूर्वमेव गरीयः ॥ २६ ॥

(२) अजहल्लक्षणा का निराकरण—'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'शोणो धावति' इस वाक्य की तरह अजहल्लक्षणा मान कर भी अखण्ड अर्थ की प्रतीति नहीं करायी जा सकती क्योंकि 'शोणो धावति' का अर्थ है—लाल दौड़ता है किन्तु लाल यह गुण है अतः उसका दौड़ना सम्भव नहीं इसलिए मुख्यार्थ में विरोध होने के कारण तात्पर्य की उपपत्ति के लिए शोण-शब्द की शोण गुण-विशिष्ट अश्वादि में

लक्षणा कर ली जाती है तब शोण शब्द अपने 'लाल' रूप अर्थ को लिए हुए ही अजहल्लक्षणा द्वारा शोणगुणविशिष्ट अश्वादि का बोधक होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त विरोध नहीं रह जाता। किन्तु 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में यह लक्षणा नहीं मानी जा सकती क्योंकि तत् पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और त्वं पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य। ये दोनों चैतन्यांश में एकत्व के प्रतिपादक होते हुए भी परोक्षत्वापरोक्षत्व रूप अर्थ में परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिये यदि अजहल्लक्षणा मान कर परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट तत् और त्वं पदों के द्वारा केवल चैतन्यांशैकत्व की कल्पना की भी जाय तो परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट रूप भेद के बने ही रहने के कारण अभेद प्रतीति नहीं हो सकती और यदि अभेद प्रतीति न हुई तो लक्षणा मानने से कोई लाभ ही न हुआ। अतः यहाँ अजहल्लक्षणा नहीं मानी जा सकती।

यदि यह कहें कि तत्-पद जो है वह त्वं-पद से विरुद्ध अपना जो परोक्षत्वादि धर्म है उसे छोड़ कर अविरुद्ध अर्थात् उभयसामान्य जो चैतन्यांश है उसको न छोड़ता हुआ त्वं-पद का जो अर्थ है किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट जीव चैतन्य—उसको लक्षणा के द्वारा बोधित करा सकता है और इसी प्रकार त्वं-पद जो है वह तत्-पद से विरुद्ध अपना जो अपरोक्षत्वादि धर्म है उसे छोड़ कर अविरुद्ध अर्थात् उभय सामान्य जो चैतन्यांश है उसको न छोड़ता हुआ तत्-पद का जो अर्थ है सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर चैतन्य—उसे लक्षणा के द्वारा बोधित करा सकता है इसलिए यहाँ भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं तो यह ठीक नहीं क्योंकि एक ही तत्-पद या त्वं-पद परित्यक्त किये हुए अपने परोक्षत्वापरोक्षत्व रूप अर्थ को भी लक्षणा से सूचित करे और दूसरे पद के अर्थ को भी लक्षणा के द्वारा बोधित करे ऐसी उभय लक्षणा नहीं हो सकती (शोणो धावति यहाँ शोण-शब्द अपने 'लाल' अर्थ को भी बतलावे और लक्षणया काले या नीले आदि दूसरे गुणों को भी द्योतित करे ऐसा कभी नहीं हो सकता)। इसके अतिरिक्त जब तत् और त्वं दोनों पद वर्तमान हैं तो उन्हीं से अपने-अपने अर्थों की स्वतः प्रतीति हो जायगी—लक्षणा द्वारा दूसरे पद से दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति कराने की कोई आवश्यकता भी नहीं ॥ २६ ॥

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्काल-

विशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसी'ति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति ॥ २७ ॥

(३) भागलक्षणा-स्थापनम्—इत्थञ्च 'तत्त्वमसी'ति वाक्ये भागलक्षणयैवाखण्डार्थप्रतीतिः। तल्लक्षणन्तु वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तित्वम्—यत्र शब्द आंशिकरूपेण स्वार्थं परित्यज्यांशिकार्थमेवावगमयति तत्र भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) भवतीति भावः। यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्ये तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टैतत्कालैतद्देशविशिष्टरूपार्थयोः सोऽयं—शब्दयोर्देशकालविरोधेऽपि देवदत्तपिण्डरूपैकार्थाववोधनाय जहदजहल्लक्षणा स्वीक्रियते तथैव 'तत्त्वमसी'ति वाक्येऽपि विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वाद्यंशं जहत्, अविरुद्धचैतन्यांशं चाजहत्तत्त्वमिति-पदद्वयमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति सर्वमनवद्यम् ॥ २७ ॥

[पूर्वोक्तप्रकारेणाधिकारिणस्तत्त्वंवाच्यब्रह्मजीवयोस्तादात्म्यज्ञाने जाते सति त्वमर्थस्याब्रह्मत्वं तदर्थस्य च पारोक्ष्यं व्यावर्तते; पूर्णानन्दस्वरूपेण प्रत्यग्बोधश्चावतिष्ठते। यथा चोक्तम्—

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत्।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्त्येत तदैव हि—इत्यादि] ॥

(३) जहदजहल्लक्षणा की स्थापना—इसलिये 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तीसरे प्रकार की लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा) से ही अखण्ड अर्थ का बोध होता है। इस लक्षणा में शब्द अपने अर्थ के कुछ अंश को छोड़कर कुछ ही अंश का बोधक रह जाता है—'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में सः (तत्) शब्द का अर्थ है तत्कालविशिष्ट देवदत्त और अयम् शब्द (इदम्) का अर्थ है एतत्कालविशिष्ट देवदत्त। यहाँ देवदत्तांश में कोई विरोध नहीं प्रत्युत तत्कालीन और एतत्कालीन भाग में कालिक विरोध है, अतः यहाँ पर विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध देवदत्त पिण्डमात्र का बोध कराने के लिए जहदजहल्लक्षणा मानी जाती है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत्-पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (ब्रह्म) और त्वं-पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (जीव) यहाँ चैतन्यांश में कोई विरोध नहीं किन्तु परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशों में

परस्पर विरोध है। इसलिए इन विरुद्धांशों को त्यागकर (जहत्) और चैतन्यांश को न त्यागकर (अजहत्) तत् और त्वम् पद अविरुद्ध अखण्ड चैतन्यमात्र को लक्षित करते हैं॥ २७॥

विशेष—

[जब अधिकारी को पूर्वोक्त प्रकार से तत् और त्वम् अर्थात् ब्रह्म और जीव जगत् का तादात्म्य ज्ञान हो जाता है तो निम्नलिखित बात होती है :—

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत्।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्त्येत तदैव हि॥ १॥
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते॥ २॥
प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ?
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः॥ ३॥

पञ्चदशी में 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ निम्नलिखित रूप से प्रदर्शित किया गया है :—

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥ १॥
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वम्-पदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥ २॥

अनुभववाक्यार्थः

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्मविषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्य-

मपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति ॥

[यहाँ तक अखण्ड चैतन्य के प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' इस उपदेश महावाक्य की विस्तृत व्याख्या की गई। इस प्रकार के उपदेश से जिज्ञासु को जो 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव होता है उस वाक्यार्थ की विस्तृत विवेचना अब यहाँ की जायगी।]

इत्थमाचार्यो यदा अध्यारोपापवादन्यायेन तत्त्वमसीत्येतद्घटकतत्त्वंपदार्थौ सम्यगवबोध्याधिकारिणं तत्त्वमसीति वाक्येनाखण्डार्थमवगमयति तदा तदधिकारिणः 'अहं प्रत्यगात्मा परंब्रह्म अस्मि' इति चित्तवृत्तिरुदेति। गुरुमुखश्रुततत्त्वमसीति वाक्यार्थस्याध्यारोपापवादपुरस्सरं सम्यगवबोधानन्तरमधिकारी देहेन्द्रियादिसकलदृश्यविलक्षणप्रत्यगात्मनः शुद्धेन, चैतन्येन (परमात्मना) सहैकत्वमवगत्याहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थमनुस्मरन् स्वात्मानन्दमनुभवतीति भावः।

ननु चित्तवृत्तिर्जडेति दीपप्रभाभास्करमण्डलमिव शुद्धप्रकाशमात्मानं व्याप्तुमसमर्थेति तं विषयीकृत्य तदुदयासम्भव इत्यत आह—सा तु इति। सा चित्तवृत्तिर्न शुद्धं ब्रह्म स्वविषयं करोति प्रत्युताज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नं परब्रह्म विषयीकुर्वाणा चैतन्यप्रतिबिम्बेन च सहिता प्रत्यक्चैतन्यगतमखिलमज्ञानं विनाशयतीति तदज्ञानावरणविनाशानन्तरमेवाहं नित्यशुद्ध–बुद्धस्वरूपं ब्रह्मेत्यनुभवस्तस्य जायते।

नन्वेवमधिकारिणस्तत्त्वमसीत्यादि वाक्यश्रवणानन्तरं तत्तात्त्विकज्ञानेनाखण्डचैतन्यवृत्त्युदयनिबन्धने प्रत्यक्चैतन्यगताज्ञानविनाशेऽप्यखिलचराचरप्रपञ्चरूपस्य तदज्ञानकार्यस्य पूर्ववदेव प्रत्यक्षमवभासमानत्वात्कथमेकमेवाद्वितीयमित्यद्वैतसिद्धिरित्यत आह–तदेति। कारणे नष्टे कार्यमपि नश्यतीति पटकारणतन्तुदाहे पटरूपकार्यदाहवदखिलप्रपञ्चकारणाज्ञाननाशे तत्कार्यस्याखिलप्रपञ्चस्यापि विनाशसम्भवात्। नन्वेवं कारणीभूताज्ञानविनाशानन्तरं तत्कार्यप्रपञ्चविनाशेऽपि अखण्डाकाराकारितवृत्तेस्सद्भावात्तदापि नाद्वैतसिद्धिरित्यत आह—तदन्तर्भूतेति। अखण्डाकाराकारितवृत्तेरपि अज्ञानतत्प्रपञ्चान्तर्गततया कारणभूताज्ञानविनाशे तत्कार्यरूपवृत्तिप्रपञ्चयोरुभयोरपि विनाशसम्भवात्। नन्वेवमज्ञानप्रपञ्चचित्तवृत्तीनां

नाशेऽपि वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्याभासस्य वर्तमानत्वान्नाद्वैतसिद्धिरित्यत आह—, तन्नेति। दर्पणे प्रतिबिम्बितमुखस्य दर्पणाभावे पार्थक्येनावभासनासम्भवादिव चित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितस्य चैतन्यस्य चित्तवृत्त्यभावे पृथक्प्रतीतेरसम्भवात् इति भावः। इत्थञ्च दीपप्रभा प्रभाकरप्रभां प्रभासयितुं यथाऽसमर्था सती तयाऽभिभूयते तथैव प्रतिबिम्बितचैतन्यमपि वृत्तिविनाशानन्तरं पृथङ् न प्रतीयते अपि तु स्वयं प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मणोऽवभासनासमर्थतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूत-चित्तवृत्तिविनाशाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नमात्रमव-तिष्ठते ॥ २८ ॥

जब गुरु अध्यारोपापवादन्याय द्वारा जिज्ञासु को तत्त्वमसि के तत् और त्वम् पदार्थों को भली—भाँति समझा कर अखण्ड अर्थ का बोध करा देते हैं तो अधिकारी के हृदय में यह अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति उदय होती है कि मैं ही नित्य शुद्ध बुद्ध आदि स्वरूप ब्रह्म हूँ। अब यह सन्देह होता है कि चित्तवृत्ति तो जड़ है अतः जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्यमण्डल में नहीं व्याप्त हो सकता उसी प्रकार जड़ चित्तवृत्ति भी स्वयंप्रकाश एवं नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा को अपना विषय बनाकर नहीं उदय हो सकती इसका समाधान मूल में 'सा तु' इत्यादि के द्वारा किया गया है अर्थात् वह चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती प्रत्युत वह अज्ञान-विशिष्ट प्रत्यगभिन्न-विषयिणी होती है। उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब वह प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञानावरण को दूर कर देती है। यही (अज्ञानावरण का दूर करना) उसके उदय होने का प्रयोजन है। प्रत्यक् चैतन्यगत परब्रह्म-विषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही उसे यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही नित्य शुद्ध बुद्ध आदि स्वरूप ब्रह्म हूँ। अब यह सन्देह होता है कि अधिकारी जब 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों को सुनता है तो उसके तात्त्विक ज्ञान से अखण्ड चैतन्य वृत्ति के कारण प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञान भले ही नष्ट हो जाय पर अज्ञान का कार्य जो सकल चराचर प्रपञ्च है, वह तो प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा, अतः 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस शङ्का के निवारण के लिए उत्तर यह है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है; जैसे तन्तुरूप कारण के जल जाने पर पट रूप कार्य का भी नाश हो जाता है उसी प्रकार यहाँ भी अज्ञान कारण है और चराचर प्रपंच कार्य है इसलिए जब अज्ञानरूपी कारण नष्ट हो जायगा तो उसका कार्य चराचर प्रपञ्च भी नहीं

भासित होगा। यदि यह कहें कि प्रपंच के नष्ट होने पर भी अखण्डाकाराकारित वृत्ति तो अवशिष्ट रहेगी ही, अतः फिर भी अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती, तो इसका उत्तर यह है कि वह वृत्ति भी अज्ञान तथा उसके कार्य-प्रपञ्च के अन्तर्गत ही है, अतः कारणीभूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर प्रपंच एवं वृत्ति दोनों नष्ट हो जायँगे अब यदि यह कहें कि अज्ञान एवं चराचर प्रपंच तथा अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के नष्ट हो जाने पर भी वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्याभास वो विद्यमान रहेगा, अतः तब भी अद्वैत-सिद्धि नहीं हो सकती तो इस सन्देह का उत्तर यह है कि अखण्डाकार वृत्ति के नष्ट हो जाने पर भी उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था वह अब अलग नहीं प्रतीत हो सकता। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है पर यदि दर्पण न रहे तो केवल बिम्ब, अर्थात् मुखमात्र भासित होगा क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब अलग नहीं प्रतिभासित हो सकता। इसी प्रकार वृत्ति में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था वह अब वृत्ति के नष्ट हो जाने पर अलग न भासित होकर बिम्बमात्र शेष रह जायगा। अर्थात् जैसे दीपक की प्रभा सूर्य को अवभासित नहीं कर सकती, अतः उसके आगे क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार स्वयंप्रकाश-स्वरूप प्रत्यगभिन्न परब्रह्म को वह चैतन्य-प्रतिबिम्ब अवभासित नहीं कर सकता। प्रत्युत जिस अखण्ड चित्तवृत्ति के कारण वह अलग प्रतीत हो रहा था, उसके नष्ट हो जाने पर स्वतः उसी प्रकार बिम्ब मात्र रह जायगा जिस प्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के रहते तक तो दिखलाई देता है किन्तु दर्पण के न होने पर बिम्बमात्र (मुखमात्र) ही शेष रह जाता है। ठीक इसी प्रकार वृत्ति के न होने पर उस चैतन्य के प्रतिबिम्ब का भी बिम्ब-प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममात्र ही रह जाता है॥ २८॥

एवञ्च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्—

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता' इति॥
'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते' इति च॥

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथापि—अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुर-

स्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति। तदुक्तम्—

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्' इति॥

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति॥ २६॥

इत्थं चैतन्यप्रतिबिम्बसहिताखण्डाकाराकारितचित्तवृत्त्या प्रत्यक् चैतन्यगताज्ञानविनाशानन्तरं प्रत्यगभिन्नमात्रमवशिनष्टि। यतो हि स्वयं प्रकाशमानत्वाद् वृत्तिगतचिदाभासेन तस्यावभासनासम्भवः, एवमेतत्स्वीकारे 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः सह विरोधाभावोऽपि सङ्गच्छते। अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासेनाज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्याज्ञाननिवृत्तिपूर्वकस्वस्वरूपावबोधतात्पर्येणोक्तानां 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां, स्वयंप्रकाशशीलपरब्रह्मणोऽन्यावभासनानर्हतया वाङ्मनोबुद्ध्याद्यतीतत्वेन तत्तात्पर्येणोक्तानां, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिस्मृतीनाञ्च सार्थक्येन चारितार्थ्यात्। घटादिपदार्थानवलोकयितुमक्षिदीपयोरुभयोरावश्यकत्वेऽपि दीपमवलोकयितुमक्षिमात्रस्यावश्यकत्वमिवाज्ञानावच्छिन्नजीवचैतन्यगतमज्ञानं विनिवर्त्य। ब्रह्ममात्रमवशेषयितुम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारायाश्चित्तवृत्ते स्तद्गतचिदाभासस्य चोभयोरावश्यकत्वम्। इत्थञ्चाज्ञानावरणापहरणानन्तरमेव ब्रह्मज्ञानं भवतीति तात्पर्येणोक्तानां 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतीनां चारितार्थ्यम्। अज्ञानावरणापहरणान्तरमवशिष्टस्यावाङ्मनोगोचरस्य फलचैतन्यस्यान्यावभासनानर्हतया तत्तात्पर्येणोक्तानां 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतीनां चारितार्थ्यमिति भावः। पञ्चदश्यामयं भावो 'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता' इत्यादिरूपेण स्पष्टीकृतः।

एतत्तु चैतन्याकाराकारितचित्तवृत्त्यनुरोधेन—अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारा वृत्तिरुदीयमाना सती जीवचैतन्यगतमज्ञानावरणमात्रमपसार्य तत्क्षणं स्वयमपि मलिनं जलं निर्मलीकृत्य तस्मिन्नेव जले कतकचूर्णवद्विलीयते। तदनन्तरं तद्वृत्तिप्रतिबिम्बितपूर्वचैतन्याभासमात्रमवतिष्ठते। स चापि शुद्धचैतन्यस्यैवांश इति तदवभासनानर्हतया तस्मिन्नेव विलीयते।

जडघटाद्याकाराकारितचित्तवृत्तिरेतस्मात्सर्वथा विभिनत्ति, तद्यथा—यदा घट-

विषयकज्ञानवानहमित्यज्ञातघटविषयिणी चित्तवृत्तिरुदितिमासादयति तदा सा वृत्तिर्घटावच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानं विनाशयति तथा स्वस्थचिदाभासेन घटमपि प्रकाशयतीत्येतावान् विशेषः। पञ्चदश्याः–'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ—' घटमपि कारिकायामप्यैदम्पर्यमुपलभ्यते। (बुद्धिस्तत्प्रतिबिम्बितचिदाभासश्चैतदुभयं घटं व्याप्नोति। तयोर्धिया अर्थात् वृत्त्या घटविषयकमज्ञानं विनश्यति। तत्प्रतिबिम्बित-चिदाभासेन च घटः प्रकाशितो भवति)। तात्पर्यञ्चेदं यद्, यथा दीपस्तमोनिहितघटाद्यावरणरूपान्धकारमपसारयति स्वप्रकाशेन तदवभासयति च, इत्थमेव घटाद्याकाराकारितचित्तवृत्तिर्घटादिविषयकचैतन्याज्ञानावरणमपहरति स्वप्रतिबिम्ब-चिदाभासेन घटादिकं प्रकाशयति च॥ २९॥

इस प्रकार जब यह मान लिया जाता है कि चैतन्यप्रतिबिम्बसहित अखण्डाकाराकारितवृत्ति के द्वारा प्रत्यक्-चैतन्यगत अज्ञान नष्ट होकर प्रत्यगभिन्न पर-ब्रह्ममात्र शेष रह जाता है क्योंकि स्वयं प्रकाशमान होने के कारण वह वृत्तिगत-चिदाभास के द्वारा प्रकाशित ही किया जा सकता तो 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' एवं 'मनसैवेदमाप्तव्यम्', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। बुद्ध्यालोकनसाध्येऽस्मिन् वस्तुन्यस्तमिता यदि। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव' इत्यादि श्रुति-स्मृतियों का 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'; 'यन्मनसा न मनुते; अनाशिनोऽप्रमेयस्य', इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के साथ विरोध नहीं होता क्योंकि अन्तःकरणवृत्तिबिम्बित चिदाभास के द्वारा अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञानावरणनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपज्ञान के तात्पर्य से कही हुई 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ चरितार्थ हो जाती हैं और स्वयंप्रकाशशील परब्रह्म किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता, वह मन, वाणी तथा बुद्धि से परे है अतः उसके तात्पर्य से कही हुई 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ चरितार्थ हो जाती हैं।

अर्थात् जिस तरह घटादि जड़ पदार्थ देखने के लिए आँख और दीपक दोनों की आवश्यकता है किन्तु दीपक देखने के लिए केवल आँखें पर्याप्त हैं उसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न जीवचैतन्यगत अज्ञान को हटाकर ब्रह्ममात्र अवशेष रखने के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति तथा तद्गतचिदाभास दोनों की आवश्यकता है। इस प्रकार अज्ञानावरण हट जाने से ब्रह्मज्ञान होने के तात्पर्य से

ही 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया', इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ कही गई हैं और अज्ञानावरण हट जाने से जब स्वयं प्रकाशमान चैतन्य (फल चैतन्य) अवशिष्ट रह जाता है तो उसे कोई प्रकाशित नहीं कर सकता, वहाँ किसी की गति नहीं इस तात्पर्य से कही हुई 'यन्मनसा न मनुते', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ संगत हो जाती हैं। यही सब भाव पञ्चदशी में निम्नलिखित रूप से प्रकट किया गया है :—

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥
चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने, किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥
स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते।
स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत्परम्।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत् ॥

यह तो हुई चैतन्याकाराकारितवृत्ति की बात अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की जब अज्ञात ब्रह्मविषयक चित्तवृत्ति उदित होती है तो वह जीव चैतन्यगत अज्ञानावरणमात्र को दूर करती है। उसके दूर होते ही अपने आप भी उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे गँदले पानी को साफ करके कतक[1] चूर्ण अपने आप पानी में विलीन हो जाता है अथवा अरणिगत अग्नि अरणि से उत्पन्न होकर अरणी के नष्ट हो जाने पर अपने आप भी शान्त हो जाती है। तत्पश्चात् उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप चैतन्याभास रह जाता है। वह स्वयं प्रकाशमान शुद्ध चैतन्य का ही अंश है अतः उसे प्रकाशित न कर सकने के कारण उसी में विलीन हो जाता है [स्वयंप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते]

किन्तु जडघटाद्याकारातिवृत्ति[2] की बात इससे भिन्न है। जब 'अयं घटः' 'अहं घटविषयकज्ञानवान्' इस प्रकार अज्ञातघटविषयकचित्तवृत्तिका उदय होता है

---

१. अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्धि निर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥

२. अन्तःकरण के चक्षुरादि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिणत होने को वृत्ति कहते हैं।

तो वह वृत्ति घटावच्छिन्नचैतन्य के आवरण करने वाले घटविषयक अज्ञान का भी नाश करती है और अपने में वर्तमान चिदाभास के द्वारा घट को भी प्रकाशित करती है। पञ्चदशी की निम्नलिखित कारिका यही बात बतलाती है :—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥

अर्थात् बुद्धि और बुद्धिप्रतिबिम्बित चिदाभास ये दोनों जाकर घट में व्याप्त होते हैं उनमें से धी[1] अर्थात् वृत्ति के द्वारा घटविषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है और वृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभास के द्वारा घट प्रकाशित होता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार दीपक अन्धेरे में रक्खे हुए घटादिकों के आवरणरूप अंधकार को दूर करता है तथा अपने प्रकाश से उन्हें प्रकाशित भी करता है उसी प्रकार घटाद्याकाराकारितचित्तवृत्ति घटादिविषयक चैतन्याज्ञानावरण को नष्ट करती है और स्वप्रतिबिम्बितचिदाभास के द्वारा घटादिकों को प्रकाशित भी करती है ॥२९॥

एवंभूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्य्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते। श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि । तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ । यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्। फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः । यथा तत्रैव 'उत

१. धीशब्देन वृत्तिरूपज्ञानाभिधानात् (वे० प०)

तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम् । प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः । यथा तत्र 'सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते । मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम् । विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् । समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति । तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम् । तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद्द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते । तदुक्तम्—

'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्' ॥ इति ॥

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि काराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम् । तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते । ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति । उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः ॥ ३० ॥

एवंपूर्वोदितोदितयाऽन्तःकरणवृत्त्या प्रत्यगभिन्नचैतन्यसाक्षात्कृतौ तत्साधनभूतश्रवणादीनामनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपीह प्रदर्श्यन्ते—

श्रवणम् = षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तवाक्यानामेकस्मिन्नद्वितीयब्रह्मणि तात्पर्यावधारणम् । तत्र लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गशब्दव्युत्पत्त्या षड्विधलिङ्गानि ब्रह्मात्मैकत्वावबोधकोपक्रमोपसंहारादीनि तैरित्यर्थः । तानि च—'उपक्रमोपसंहारा' वित्यादिना प्रदर्शितपूर्वाणि । तद्यथा—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

तत्र—

(१) उपक्रमोपसंहारौ—प्रकरणप्रतिपाद्यविषयमादावुपक्रम्यान्ते तस्यैवोपपादनमुपक्रमोपसंहारौ; यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये—प्रकरणप्रतिपाद्यमद्वितीयं वस्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्येवमादावुपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्येवंरूपेणान्ते तस्यैवोपपादनम् ।

(२) अभ्यासः—स्पष्टोऽर्थः ।

(३) अपूर्वता—प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयताऽपूर्वता । यथा छान्दोग्ये एव—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'त्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मण उपनिषन्मात्रप्रामाण्यप्रतिपादनेन तद्विषये प्रमाणान्तराभावप्रतिपादनम् ।

(४) फलम्—प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा श्रूयमाणं यत्प्रयोजनं तत्फलम्, यथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिरूपेणाद्वितीयवस्तुज्ञानस्य प्रयोजनमद्वितीयवस्तुप्राप्तिरुक्ता ।

(५) अर्थवादः—प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः स्थाने स्थाने प्रशंसनमर्थवादः, यथा 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः'—इत्यादावद्वितीयवस्तुब्रह्मणः प्रशंसा ।

(६) उपपत्तिः—प्रकरणप्रतिपाद्यविषयं प्रमाणीकर्तुं या युक्तिरुपस्थाप्यते सा उपपत्तिः; यथा जगतो ब्रह्मविवर्तसाधनाय 'यथा सौम्यैकेन'—इत्यादिश्रुतिरुपपत्तिः; अर्थात् यथा एकेनैव मृत्पिण्डेन निर्मितं घटशरावादिवस्तु विकारानुकूलनाममात्रेण भिन्नमपि मृद्रूपमेवेति सत्यम् एवमेवैतत्सकलं नामरूपात्मकं जगद् ब्रह्मणो विवर्त्तो नान्यदिति तद्विवर्तस्य प्रपञ्चस्य विकारनामधेययोर्वाचारम्भणमात्रत्वात्तन्मात्रमेव सत्यमिति युक्तिः ।

मननम्—षड्विधलिङ्गतात्पर्यावबोधपूर्वकवेदान्तानुकूलयुक्तिभिरद्वितीयवस्तुनो (ब्रह्मणः) निरन्तरमनुचिन्तनम् ।

निदिध्यासनम्—देहादिबुद्धिपर्य्यन्तविभिन्नजडपदार्थेषु तद्विभिन्नतानिराकरणपूर्वकं सर्वत्रैकाद्वितीयब्रह्मैक्यप्रत्ययप्रवाहीकरणम् ।

समाधिः—ज्ञेयरूपे चित्तस्य निश्चलावस्थितिः समाधिः । स द्विविधः—

(१) सविकल्पकः (२) निर्विकल्पकश्च । तत्र—

(१) सविकल्पकः—ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयत्रिपुटीभेदभानपूर्वकमद्वितीयवस्तुन्यहं ब्रह्मास्मीति तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम् ।

ननु सकलभेदनिराकरणपूर्वकमद्वैतवस्तुमात्रभानार्थमेवोक्तसमाध्योः प्रवर्त्तनमिति तदवस्थायामपि ज्ञात्रादिभेदभानेऽद्वैतवस्तुसिद्ध्यभावस्समाधेरनुपयुक्तिश्चेत्यत आह—तदेति। तदा अर्थात् सविकल्पकसमाध्यनुभवकाले मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् ज्ञात्रादिभेदभानस्य वाचारम्भणमात्रत्वादद्वैतमेव वस्तु भासते। एतदेव 'दृशिस्वरूपमि' त्यादिना स्पष्टीकृतम्—

'यत् साक्षिस्वरूपम्' यच्चाकाशवत्सर्वत्र व्याप्तम्, एवं सर्वथा निर्लिप्तम्, यच्च सर्वदा एकरूपेणैवावभासमानम्—न चन्द्रादिप्रकाशवत्कदाचित्क्षीणप्रकाशं कदाचिच्चाधिकप्रकाशम्, यच्च न कदापि जायते, यच्चाक्षरम्, अविनश्वरम् एवमलेपकम् अविद्यादिदोषरहितम्, यच्च सर्वगतम् सर्वत्र वर्तमानम् एवं सजातीयविजातीयभेदशून्यम्; यच्च सर्वथा कार्यकारणोपाधिनिर्मुक्तम् एवं निरतिशयानन्दस्वरूपं यत्परं ब्रह्म (ॐ) तदहमिति भावः। अत्र यथा परमात्मनो भिन्नभिन्नोपाधीनां निर्देशेऽपि वस्तुगत्या सर्वोपाधयः एकस्यैव परब्रह्मणो विभिन्ननामानीति तदेकत्वं न विरुध्यते तथैव सविकल्पकसमाधौ ज्ञात्रादिभेदभानेऽपि तत्सर्वमद्वैतं ब्रह्मैवेति भिन्नतायामप्येकताया एवानुभवेऽद्वैतस्य भानं न विरुध्यते।

निर्विकल्पकसमाधिः—अत्र ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभेदभावभानाभाव इत्यद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितचित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। अर्थात् चिराभ्यासवशादस्मिन् समाधौ संस्कारा लुम्पन्तीति ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदभावलुप्त्या यथा जलाकाराकारितलवणस्य न पृथगवभासोऽपि तु जलमात्रस्यैवावभासस्तथैवास्मिन् समाधावद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्तिरपि न पृथगवभासतेऽपि च त्वद्वितीयवस्तुमात्रमेवावभासते। ननु सुषुप्तावपि वृत्त्यभानादिदानीं समाधावपि च तथात्वप्रतिपादनादुभयोरेकीभावः स्यादिति चेन्न समाधि-सुषुप्त्योरुभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि समाधौ जलाकाराकारितलवणमिवाद्वितीयवस्तुन्यतितरामेकीभावेनानवभासमानवृत्तेः सद्भावात्सुषुप्तौ च सर्वथा तदभावाद्भेदोपपत्तेः॥ ३०॥

इस प्रकार के स्वस्वरूप चैतन्य के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि और अनुष्ठान इनका करना अत्यन्त अपेक्षित है। इसलिये अब उनको प्रदर्शित करते हैं :—

श्रवण—छः प्रकार के लिङ्गों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य समझना श्रवण कहलाता है।

छः लिङ्ग—उपक्रमोपसंहाराबभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥
१ उपक्रम तथा उपसंहार २ अभ्यास ३ अपूर्वता
४ फल ५ अर्थवाद ६ उपपत्ति

(१) उपक्रमोपसंहार—प्रकरणप्रतिपाद्य विषय के आदि और अन्त का भलीभाँति उपपादन करना उपक्रमोपसंहार कहलाता है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में—अद्वितीय वस्तु प्रतिपाद्य विषय है। उसको प्रतिपादित करते हुए आदि में 'एकमेवाद्वितीयम्' इस प्रकार के उपक्रम द्वारा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' ऐसा कह कर प्रतिपाद्य विषय का भलीभाँति उपसंहार किया गया है।

(२) अभ्यास—प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का बीच में वार-बार प्रतिपादन करना अभ्यास कहलाता है। जैसे छान्दोग्य उपनिषत् में ही—अद्वितीय वस्तु के विषय में 'तत्त्वमसि' का वार-वार प्रतिपादन करना अभ्यास है।

(३) अपूर्वता—प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु के विषय में किसी दूसरे प्रमाण का न होना अपूर्वता है; जैसे छान्दोग्य ही में 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा यह बतलाया गया है कि ब्रह्म उपनिषत् मात्र ही से जानने योग्य है अर्थात् उसके विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं अतः यह अपूर्वता है।

(४) फल—प्रकरणप्रतिपाद्य जो आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का जो प्रयोजन वह फल है, जैसे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति; तरति शोकमात्मविद्; आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरम् यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इस प्रकार अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन अद्वितीय वस्तु की प्राप्ति बतलाई गई है।

(५) अर्थवाद—प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु की जगह-जगह प्रशंसा को अर्थवाद कहते हैं, जैसे 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातम् विज्ञातम्' (तूने उस सकल प्रपञ्चाधिष्ठान ब्रह्म स्वरूप को पूछा जिसके सुनने से विना सुना हुआ भी सकलप्रपञ्च सुना हुआ हो जाता है। एवं जिस ब्रह्मज्ञान के हो जाने से अज्ञात भी वस्तु ज्ञात हो जाती है, इत्यादि) यहाँ पर अद्वितीय ब्रह्म की प्रशंसा की गई है।

(६) उपपत्ति—प्रकरणप्रतिपाद्य विषय के प्रमाणित सिद्ध करने में जो

युक्ति उपस्थित की जाती है उसे उपपत्ति कहते हैं, जैसे इस जगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करने के लिये 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन'—इत्यादि युक्ति उपपत्ति है अर्थात् जिस प्रकार एक ही मिट्टी के पिण्ड से बनी हुई घट, शराव इत्यादि वस्तुयें सब मृत्तिका रूप ही हैं, उनके नाममात्र अलग-अलग हैं और यदि नाम-रूप को छोड़ कर देखा जाय तो सब एक ही मिट्टीरूप हैं, यही सत्य है। इसी प्रकार यह सब नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का विवर्त है केवल नाममात्र के लिये पहाड़, नदी, मनुष्य, पशु आदि भेद हैं। वास्तव में सब एक ब्रह्म मात्र ही सत्य है और अन्त में वही एकमात्र शेष रह जाता है।

मनन—छः प्रकार के लिङ्गों का तात्पर्य समझ कर वेदान्त की अनुकूल युक्तियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन करना मनन कहलाता है

निदिध्यासन—देह से लेकर बुद्धि पर्यन्त जितने भी भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थ हैं उनकी भिन्नत्व-भावना को हटा कर सब में एकमात्र ब्रह्मविषयक विश्वास करना निदिध्यासन है।

समाधि[1]—यह दो प्रकार की होती है (१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक।

(१) सविकल्पक समाधि—सविकल्पक समाधि की दशा में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इनका भेदज्ञान होते हुए भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति की स्थिति होती है।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि समाधि में तो सब भेद दूर होकर अद्वैतमात्र का ही भान होना चाहिये क्योंकि यदि समाधि दशा में भी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद भासित होता रहा तो समाधि से क्या लाभ? इस सन्देह का उत्तर यह है कि सविकल्पक समाधि की दशा में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद भासित होते हुए भी अद्वैत वस्तु का उसी प्रकार भान होता है जैसे मिट्टी के बने हुए हाथी इत्यादि में मिट्टी और हाथी इन दोनों के भासित होते हुए भी हाथी इत्यादि नाम मात्र हैं। एवं स्वर्ण के कटक, कुण्डलादि में कटक-कुण्डलादि

---

१. ज्ञेय रूप में चित्त की निश्चल स्थिति को समाधि कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—१. सविकल्पक २. निर्विकल्पक। इन्हीं को क्रमशः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।

नाम मात्र हैं। वास्तविक कारण (मिट्टी या स्वर्ण) सब में एक ही है। उसी प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का भेद-भान वाचारम्भण मात्र है पर तद्गत अद्वैत का भान वास्तविक है। यही बात 'दृशिस्वरूपम्'—इत्यादि कारिका में स्पष्ट की गई है अर्थात् जो साक्षिस्वरूप है, जो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त एवं सर्वथा निर्लिप्त है, जो सर्वदा एक ही रूप भासित होता रहता है (चन्द्रादि के प्रकाश के समान जिसका तेज कभी कम या अधिक नहीं होता है), जिसका कभी जन्म नहीं होता, जो अक्षर है अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता, जो अविद्यादि दोषों से रहित है, जो सर्वत्र विद्यमान है तथा सजातीय एवं विजातीय भेदशून्य एवं एक है, जो कार्य-कारणात्मक उपाधि से सर्वथा निर्मुक्त है, इस प्रकार का निरतिशयानन्द स्वरूप जो परब्रह्म (ॐ), वह मैं ही हूँ।

यहाँ पर यद्यपि परमात्मा की भिन्न-भिन्न उपाधियों का निर्देश है पर वे नाम मात्र के लिये हैं। वस्तुगत्या सब एक ही परब्रह्म के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इसी प्रकार सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता का जो भान होता है वह नाममात्र वास्तव में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय सब अद्वैत ब्रह्म ही है। इस प्रकार भिन्नता में भी एकता (अद्वैत) का भान होता है।

(२) निर्विकल्पक समाधि—इस समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद-भाव नहीं रहता अपितु अद्वितीय वस्तु ही में तदाकाराकारित चित्तवृत्ति की अतिशय एकता होकर उसी रूप में उसकी स्थिति रहती है अर्थात् चिराभ्यास के कारण इस समाधि में संस्कार लुप्त हो जाते हैं—ज्ञाता, ज्ञानादि का भेद-भाव लुप्त हो जाता है एवं जिस प्रकार जल में लवण परिपूर्ण रूप से घुल जाने के कारण अलग नहीं प्रतीत होता प्रत्युत जल मात्र ही भासित होता है उसी प्रकार अद्वितीय वस्त्वाकारित चित्तवृत्ति का पृथक् अवभास बिल्कुल नहीं होता वरन् अद्वितीय वस्तु मात्र का भान होता है।

यहाँ अब यह सन्देह हो सकता है कि यदि निर्विकल्पक समाधि में वृत्ति का भान नहीं होता तो सुषुप्ति में भी वृत्ति का भान नहीं होता अतः दोनों (निर्विकल्पक समाधि और सुषुप्ति) एक ही हो जायँगे। इसका समाधान यह है कि यद्यपि समाधि और सुषुप्ति दोनों में वृत्ति का भान नहीं होता पर समाधि में वृत्ति रहती है और जल में नमक की तरह अद्वैत में उसकी तन्मयता हो जाने के

कारण पृथक् भासित नहीं होती• किन्तु सुषुप्ति में वृत्ति रहती ही नहीं। इस प्रकार समाधि और सुषुप्त में वृत्ति के रहने और न रहने के कारण एकता नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'। 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव ॥ ३१ ॥

मूले एव स्पष्टोऽर्थः ॥ ३१ ॥

इस निर्विकल्पक समाधि के आठ अङ्ग हैं—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि।

(१) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य; अपरिग्रह (दान न लेना) इसको यम कहते हैं।

(२) नियम—पवित्रता, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को नियम कहते हैं।

(३) आसन—कर-चरणादिकों के द्वारा किये जाने वाले पद्म, स्वस्तिक आदि आसन कहलाते हैं।

(४) प्राणायाम—नासिका द्वारा वायु का ऊपर खींचना पूरक, उसका अवरोध कुम्भक तथा उसका त्याग रेचक कहलाता है। प्राणवायु के निग्रह के लिये जो ये उपाय हैं उन्हें प्राणायाम कहते हैं।

(५) प्रत्याहार—अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों का हटा लेना प्रत्याहार कहलाता है।

(६) धारणा—अन्तःकरण का अद्वितीय वस्तु में लगा देना धारणा है।

(७) ध्यान—अन्तःकरण का रुक-रुक कर अद्वितीय वस्तु की ओर प्रवृत्त करना ध्यान कहलाता है।

(८) समाधि—सविकल्पक। ज्ञाता और ज्ञानादि के भेदावभासपूर्वक अद्वितीय वस्तु में तदाकाराकारित चित्तवृत्ति की स्थिति को सविकल्पक समाधि कहते हैं॥ ३१॥

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्ववलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा॥ ३२॥

अस्य निर्विकल्पकसमाधेर्यमादीन्यष्टावङ्गानि लयादयश्च चत्वारो विघ्ना भवन्ति। तत्राङ्गवर्गस्य मूलेनैवावगतार्थत्वाद्विघ्नवर्गो व्याख्यायते—

(१) लयः—आलस्यवशाच्चित्तवृत्तिश्शब्दादिवाह्यविषयान् ग्रहीतुमुपेक्षमाणा तिष्ठति किन्त्वेवं कृते सति प्रत्यगात्मस्वरूपमपि नावभासतेऽतः सा नितरां निद्रिता सञ्जायते। अस्या दशाया नाम लयः। स चाद्वितीयवस्तुप्राप्तिविघ्नः।

(२) विक्षेपः—अखण्डवस्त्ववलम्बनायान्तर्मुखीनापि चित्तवृत्तिर्यदा तदवलम्बनेऽसमर्था भवति तदा पुनर्बाह्यवस्तुग्रहणे प्रवर्तते। एष विक्षेपः।

(३) कषायः—लयविक्षेपरूपविघ्नाभावेऽप्युद्बुद्धरागादिवासनावशात्स्तब्धीभावमापन्नायाश्चित्तवृत्तेरद्वितीयवस्तुनोऽनवलम्बनं कषायः।

(४) रसास्वादः—अखण्डवस्त्ववलम्बनजन्यानन्दातिरेकाननुभवेऽप्यनिष्टबाह्यप्रपञ्चनिवृत्त्या ब्रह्मानन्दभ्रमेण यः सविकल्पकानन्दानुभवः स रसास्वादः। निर्विकल्पकसमाध्यारम्भकालेऽनुभूयमानो यः सविकल्पकानन्दस्तदपरित्यागपूर्वकं पुनस्तस्यैवास्वादनं वा रसास्वादः॥ ३२॥

इस पूर्वोक्त निर्विकल्पक समाधि के चार विघ्न होते हैं–(१) लय, (२) विक्षेप, (३) कषाय, (४) रसास्वाद।

(१) लय—आलस्य के कारण चित्तवृत्ति शब्दादि बाह्य-विषयों का ग्रहण करने में उपेक्षित रहती है पर उधर प्रत्यगात्मकस्वरूप भी नहीं अवभासित होता अतः चित्तवृत्ति बिल्कुल निवृत्त हो जाती है। इसका नाम 'लय' है। यह अद्वितीय वस्तु की प्राप्ति का विघ्न है।

(२) विक्षेप—अखण्ड वस्तु का ग्रहण करने के लिये जब चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होती है किन्तु वह उसे पाती नहीं तो पुनः बाह्य वस्तुओं का ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जाती है इसे 'विक्षेप' कहते हैं।

(३) कषाय—लय और विक्षेप रूप विघ्नों के न होते हुए भी रागादि वासनावश चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने के कारण अखण्ड वस्तु का अनवलम्बन 'कषाय' कहलाता है।

(४) रसास्वाद—अखण्ड वस्तु के आनन्दातिरेक की प्राप्ति न होने पर भी अनिष्ट बाह्यप्रपञ्च की निवृत्ति होने के कारण ब्रह्मानन्द के भ्रम से जो सविकल्पकरूप आनन्द का अनुभव होता है उसे 'रसास्वाद' कहते हैं। अथवा समाधि के प्रारम्भ में जो सविकल्पक आनन्द का आस्वादन उसे रसास्वाद कहते हैं ॥ ३२ ॥

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्ड-चैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

'लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति ॥
'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' इति च ॥३३॥

एतदुक्तलयादिविघ्नचतुष्टयरहितं चित्तं यदा निवातस्थलस्थितदीपवदचलं सद-खण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते सैव तस्य निर्विकल्पकसमाध्यवस्थोच्यते। एतदवाप्तये गौडपादेन 'लये सम्बोधयेच्चित्तम्'—इत्यादिप्रकारोऽभिहितः। अर्थात् पूर्वोक्तनिद्रा-लक्षणे लये प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं चित्तमुद्बोधयेत्—चित्तगतजाड्यापनोदनपूर्वकं तदु-त्साहयेत्। विक्षेपरूपविघ्ने समुपस्थिते च चित्तस्य बाह्यप्रवणतां विषयवैराग्या-दिना निगृह्यान्तः प्रवणञ्च तत् कृत्वा धैर्यावलम्बनेन पुनरद्वितीयवस्तुनिष्ठं कुर्यात्।

कषायरूपविघ्ने समुपस्थिते जानीयात्—कलुषितं मे चित्तम्, अस्याश्च रागादिवासनाया बाह्यविषयप्रापकत्वेन नानयाऽखण्डवस्तुप्राप्तिरिति चावधार्य चित्तं प्रत्यक्प्रवणं कुर्यात्। एवं कृते सति यदा चित्तं शमप्राप्तं स्यात्तदा तत् तस्मान्न विचालयेत्। अपि तु तत्रैव स्थिरीकुर्यात्। तस्याञ्च दशायां तावन्मात्रेण न कृतार्थमात्मानं मन्वीत किन्तु निःसङ्गः अर्थाद्विरहितवैषयिकसुखदुःखादिः सन् प्रज्ञया बुद्धया युक्तो भवेत्। इत्थञ्च लयादिविघ्नचतुष्टयविरहितचित्तस्य चिन्मात्रावस्थितिर्निर्विकल्पकसमाधिरिति फलितम्। अस्याश्च दशायाश्चित्तस्य निवातस्थलदीपकेन सहोपमितम्। यथा चोक्तम्—'यथा दीप' इत्यादि ॥ ३३ ॥

इन पूर्वोक्त लय इत्यादि चारो विघ्नों से रहित चित्त जव निर्वातस्थल में वर्तमान दीपक की तरह निश्चल एवं अखण्डचैतन्यमात्र स्थित होता है वही उसकी निर्विकल्पक समाधि अवस्था कहलाती है। इसकी प्राप्ति के लिए गौडपाद ने 'लये सम्बोधयेच्चित्तम्'–इत्यादि प्रकार वतलाये हैं। अर्थात् जव निद्रारूपी लय हो तो उसके दूर करने के लिये चित्त को बार-बार उत्साहित करके उसे जागृत करे। जव विक्षेपरूपी विघ्न उपस्थित हो तो चित्त को विषय-वैराग्यादि द्वारा शान्त करे और धैर्यावलम्बन द्वारा उसे पुनः अद्वितीय वस्तु में लगावे। जव कषायरूपी विघ्न उपस्थित हो तो यह सोचकर कि यह रागादि वासना बाह्य विषयों की ओर ले जाने वाली है इसके द्वारा अखण्ड वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती अतः इसका परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार विचार करने से जव चित्त शम को प्राप्त हो जाय तव उसे वहीं स्थिर कर दे फिर उसे वहाँ से विचलित न करे तथा उस दशा में सविकल्पक रस के आनन्दमात्र से अपने आपको कृतार्थ न समझे किन्तु बुद्धि के द्वारा सविकल्पक आनन्द में अनासक्त रहे। इस प्रकार लय इत्यादि जो चार विघ्न, उनसे रहित चित्त की चिन्मात्रावस्थिति को निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। इस दशा के चित्त की उपमा निर्वातस्थल में वर्तमान दीपक से दी गई है ॥ ३३ ॥

जीवन्मुक्तलक्षणम्

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञान-

तत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'इत्यादि श्रुतेः॥ ३४॥

एतौ चोक्तनिर्विकल्पकसमाधी जीवन्मुक्तस्यैव सम्भवत इति तल्लक्षणमधुनोच्यते।

जीवन्मुक्तलक्षणम्—गुरूपदेश–श्रुतिवाक्य–स्वानुभवैर्ब्रह्मात्मैक्यं, विज्ञानेनात्मगताखिलाज्ञाने विनष्टे सत्यखण्डब्रह्म साक्षात्कृतिः। एतस्याञ्च दशायां मूलमज्ञानम्, तत्कार्यरूपसञ्चितकर्मसंशयविपर्य्ययादयश्चापि विनश्यन्तीति विगताखिलबन्धनस्यात्मनो ब्रह्ममात्रेऽवस्थितिरित्येवंभूतो ब्रह्मनिष्ठ एव जीवन्मुक्तः। जीवतो जनस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिधर्माः क्लेशदायकत्वेन बन्धनस्वरूपा एवेति तेषु विनष्टेषु विमुक्तसकलबन्धनस्य तस्य निष्ठा ब्रह्ममात्रेऽवतिष्ठतेऽत एवंभूतब्रह्मनिष्ठस्य जीवन्मुक्त इति संज्ञा साम्प्रतमेव। मुण्डकोपनिषद्यपि 'भिद्यते हृदयग्रन्थिरि'त्यादिना ब्रह्मसाक्षात्कृतिदशा वर्णिता—तस्मिन्नात्मतत्त्वे साक्षात्कृते सति हृदयग्रन्थिः, बुद्धिस्थिताऽविद्यावासनामयकामनादि विनश्यति; ज्ञेयपदार्थविषयकाखिलसन्देहसन्दोहाभावश्च जायते। एवं विनष्टाखिलसंशयविनिवृत्ताविद्यस्य सर्वकर्माणि विज्ञानोत्पत्तिपूर्वजन्मान्तरकृतान्यप्यद्यावध्यफलोन्मुखानि तथा ज्ञानोत्पत्त्या सह कृतानि एतानि सर्वाणि विनश्यन्ति। तस्मिन्नसंसारिणि सर्वज्ञे परावरे–कारणरूपेण परे, कार्यरूपेण चावरे–एवं परावरे 'अयं साक्षादहमेव' इत्थं साक्षात्कृते सति जीवन्नपि पुरुषो मुक्तः सञ्जायते इति भावः॥ ३४॥

[सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधियाँ जीवन्मुक्त ही के लिये सम्भव हो सकती हैं अतः अब जीवन्मुक्त का लक्षण कहते हैं]

गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य तथा अपने अनुभव से जब आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है तो उस ज्ञान के द्वारा आत्मगत सकल अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा में मूल अज्ञान तथा उसके कार्यरूप संचित कर्म संशय, विपर्यय आदि भी नष्ट हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण बन्धनों से रहित हो जाने के कारण ब्रह्ममात्र में आत्मा की तत्परता रह जाती है। इस प्रकार के ब्रह्मनिष्ठ को ही जीवन्मुक्त कहते हैं क्योंकि जीते हुए पुरुष को कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःखादिरूपी जो चित्त के धर्म हैं वे सब क्लेश-

दायक होने के कारण बन्धन स्वरूप ही हैं, पर जब वे नष्ट हो जाते हैं, तो उसकी निष्ठा केवल ब्रह्म में ही रह जाती है। अतः ऐसे ब्रह्मनिष्ठ की जीवन्मुक्त यह संज्ञा ठीक है। मुण्डक उपनिषद भी 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः'—इत्यादि रूप से ब्रह्मसाक्षात्कार की दशा का वर्णन करती है—अर्थात् उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि (बुद्धि में स्थित अविद्या वासनामय कामनायें) टूट जाती है तथा लौकिक पुरुषों के ज्ञेय पदार्थविषयक सम्पूर्ण सन्देह विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके संशय नष्ट हो गये हैं और जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, ऐसे इस पुरुष के सब कर्म (जो विज्ञानोत्पत्ति से पूर्व जन्मान्तर में किये गये थे, किन्तु फलोन्मुख नहीं हुए तथा जो ज्ञानोत्पत्ति के साथ-साथ किये गये हैं, वे सभी कार्य) नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि उस सर्वज्ञ असंसारी परावर—कारण रूप से पर और कार्य रूप से अवर, ऐसे उस परावर के 'यह साक्षात् मैं ही हूँ' इस प्रकार देख लिये जाने पर पुरुष मुक्त हो जाता है॥ ३४॥

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणा-न्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेणाशनायापिपासाशोकमोहादिभा-जनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिद-मिति न पश्यति। 'स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः' इति ३५

नन्वेवंभूतो जीवन्मुक्तो देहेन्द्रियादीन्युपयुनक्ति न वा? उपयुनक्ति चेद्बद्धमु-क्तयोर्भेदः; नोपयुनक्ति चेच्छरीरस्याशुविनाशोऽवश्यंभावीति सन्दिग्धनिवृत्त्यर्थ-माह—अयमिति। अयं जीवन्मुक्तो जाग्रदवस्थायां मांसासृङ्मलमूत्रादिपात्रेणानेन शरीरेण, अन्धत्वबधिरत्वादिभाजनबाह्येन्द्रियसमूहेन, अशनायापिपासाशोक-मोहादिपात्रेणान्तःकरणेन च पूर्ववासनया क्रियमाणानां प्रारब्धकर्मणाञ्च फलान्य-वलोकयन्नपि (भुञ्जानोऽपि) तात्त्विकदृष्ट्या तथैव नावलोकयति (न भुङ्क्ते) यथा

इन्द्रजालमिति ज्ञानवान् जनः इन्द्रजालमेतदिति जानन्नपि 'परमार्थमेतदि'ति बुद्धया न पश्यति—तत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वादिबुद्धि न करोति। यतो हि तस्यां दशायां ज्ञानेन तस्याज्ञानं विनश्यतीति बद्धापेक्षया तस्मिन्नेतावान् विशेषो भवति। किञ्च, यथा बलवता प्रेरितो बाणो वेगक्षयं यावन्न निपतति तथैव प्रवृत्तफलकर्माधीनस्य देहस्याशु विनाशः (सद्यःपातः) न सम्भवति। इत्थञ्च जीवन्मुक्तो देहेन्द्रियादीन्युपयुञ्जन्निवावलोक्यमानोऽपि परमार्थतो न तान्युपयुनक्तीत्यत्र 'सचक्षुरचक्षुरिव, तदेजति तन्नैजति' इत्यादिश्रुतिरपि प्रमाणम्। अस्मिन् विषये पूर्वाचार्यसम्मतिं प्रदिदर्शयिषुरुपदेशसाहस्रीकारिकामपि प्रमाणरूपेणोपन्यस्यति ग्रन्थकारः—सुषुप्तवदित्यादि। जाग्रति जाग्रदवस्थायाम् अविद्यावशाद् द्वयं पश्यन्नपि यः अद्वयत्वतः सुषुप्तावस्थायाः अद्वैतभानापेक्षया तत् (द्वयम्) विशेषं न मनुते तथा लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणोऽपि तत्र कर्तृत्वाद्यभिमानाभावान्निष्क्रियः, कर्मफलनिर्लिप्तः। एवंभूत एव जनः इह आत्मवित् जीवन्मुक्तो नान्य इति निश्चयः॥ ३५॥

[अब यहाँ यह सन्देह होता है कि इस प्रकार का जीवन्मुक्त देह तथा इन्द्रियादिकों का उपयोग करता है या नहीं। यदि उपयोग करता है तो बद्ध और मुक्त में कोई अन्तर नहीं; यदि नहीं उपयोग करता है तो शरीर का शीघ्र विनाश अवश्यम्भावी है। इस सन्देह के निवारण करने के लिए मूल में 'अयं तु-' इत्यादि लिखते हैं अर्थात् यह जीवन्मुक्त जब जाग्रत् अवस्था में होता है तो मांस-रक्त-मलमूत्रादि के पात्र इस शरीर से तथा अन्धत्वादि के भाजन बाह्य इन्द्रिय समूह से और भूख-प्यास-शोक-मोहादि के पात्र अन्तःकरण से पूर्ववासना के कारण किये जाते हुए कर्मों तथा आरब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी तात्त्विक दृष्टि से उसी प्रकार नहीं देखता जैसे जादू देखने वाला पुरुष जादूगर की बातों को जादू समझ कर 'यह वास्तविक नहीं, इस प्रकार देखता हुआ भी नहीं देखता [अर्थात् उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अभिमान नहीं रखता, क्योंकि उस दशा में ज्ञान के द्वारा उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है अतः उसमें बद्ध की अपेक्षा यह विशेष्टता होती है। साथ ही जैसे किसी बलवान् के द्वारा फेंके हुए बाण में जब तक फेंकने वाले की शक्ति रहती है तब तक वह नहीं गिरता उसी प्रकार जब तक कर्म का फल चालू रहता है तब तक उसके शरीर का विनाश भी नहीं होता] इसी बात को सचक्षुरचक्षुरिव, सकर्णोऽकर्ण इव, तदेजति

तन्नैजति' इत्यादिरूप से श्रुतियाँ भी प्रमाणित करती हैं। 'उपदेशसाहस्री' में जीवन्मुक्त का लक्षण 'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति' इत्यादिरूप से बतलाया गया है अर्थात् जाग्रत अवस्था में द्वैतभान के होते हुए भी जो सुषुप्तावस्था के अद्वैतभान की तरह विशेष नहीं समझता तथा कर्मों को करता हुआ जो निष्क्रिय है वही आत्मवेत्ता (जीवन्मुक्त) है दूसरा नहीं, ऐसा निश्चय है ॥ ३५ ॥

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा । तदुक्तम्—

'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षण' इति ॥
'ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः' इति ॥ ३६ ॥

ननु यदि जीवन्मुक्तः कर्म कुर्वन्नप्यात्मानं निष्क्रियं मनुते तदा तस्य पुण्यपापलेपाभावेन तदभिमानवशाद् यथेष्टाचरणप्रसङ्ग इत्यत आह—अस्येति— । जीवन्मुक्तस्यात्मज्ञानात्पूर्वमेव शान्तिसन्तोषादिशुभगुणैरशुभकर्मवासना विनिवार्यते । अतो यथा संसारदशायां स्वभावतयाऽनुकूलाभीष्टयथोपस्थितपदार्थाहारादिषु तस्य प्रवृत्तिर्न विषादिष्वेवमेव तत्त्वज्ञानानन्तरं तस्य शुभानामेव वसनानामनुवृत्तिर्भवतीति तत्फलस्वरूपशुभकर्मस्वतो न यथेष्टाचरणप्रसङ्गः । यदि च तस्या अपि क उपयोग इत्यनुयोगस्तदा शुभाशुभयोरुभयौरौदासीन्थमिति गृहाण; अशुभकर्मसु तु तस्य न कथमपि प्रवृत्तिरिति जीवन्मुक्तस्य न कथमपि यथेष्टाचरणप्रसङ्गस्सम्भवति । तथात्वे च सति मूर्खात्मज्ञानिनोरभेदापत्तिः स्यात् । नैष्कर्म्यसिद्धिरपि 'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य' इत्यादिकारिकया एतदेव स्पष्टीकरोति । तथा च ब्रह्मविदहमित्यभिमानं त्यक्त्वा आत्मनोऽलुप्तदृष्टत्वमकर्तृत्वञ्च यो वेद स एवात्मज्ञो नान्यः । अयमेव भाव 'उपदेशसाहस्रयाम्' 'यो वेदालुप्तदृष्टत्वम्' इत्यादिनाऽभिव्यक्तो लभ्यते ॥३६॥

अब यह सन्देह हो सकता है कि यदि जीवन्मुक्त कर्म करता हुआ भी अपने आपको उनका कर्त्ता नहीं समझता (इस लिये उसे पाप—पुण्य भी कुछ नहीं होता) तो वह भले—बुरे कोई भी काम अपनी इच्छानुसार कर सकता है । इसका समाधान करने के लिये कहते हैं कि ज्ञान के होने के पहले ही इस जीवन्मुक्त के शान्त्यादि गुणों से अशुभवासनायें नष्ट हो जाती हैं इस कारण जैसे ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व संसारी दशा में वह यथोपस्थित आहारादि से ही सन्तुष्ट होकर विशेष के

लिये कोई प्रयत्न नहीं करता उसी प्रकार तत्त्वज्ञानानन्तर जीवन्मुक्त दशा में भी शुभ वासनाओं की अनुवृत्ति के फलस्वरूप वह शुभकर्मों में ही प्रवृत्त होता है, अशुभ कर्मों में नहीं।

यदि कहें कि जीवन्मुक्त दशा में शुभवासनानुवृत्ति की भी क्या आवश्यकता है तो इसका उत्तर यह है कि फिर वह शुभ या अशुभ दोनों से उदासीन हो जाता है। सारांश यह कि ऐसी परिस्थिति में यदि जीवन्मुक्त की प्रवृत्ति होगी तो शुभ कर्मों में ही होगी अन्यथा शुभाशुभ दोनों में उदासीनता हो जायगी पर अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति न होगी क्योंकि ऐसा करने से मूर्ख और आत्मज्ञानी में फिर अन्तर ही क्या रह जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि की 'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य' इत्यादि कारिका यही बात स्पष्ट करती है। इस लिये 'मैं आत्मज्ञानी हूँ' इस अभिमान को छोड़कर जो अपने निष्कर्तृत्वादि को जनता है वही आत्मज्ञानी दूसरा नहीं। यही भाव उपदेशसाहस्री में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:—

यो वेदालुप्तदृष्टत्वमात्मनोऽकर्तृतां तथा।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ॥ ३६ ॥

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालंकारवदनुवर्तन्ते।

तदुक्तम्—

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः' ॥ ३७ ॥ इति

जीवन्मुक्तदशायां विद्वान् संन्यासी न कथमप्यभिमनुते न चापि कमप्यभिद्रुह्यति। इमे चानभिमानित्वाद्वेष्टृत्वादिसद्गुणास्तस्य ज्ञानसाधनानि च भवन्ति प्रत्युत तस्मिन्नप्रयत्नेनैव स्वतो लक्षणरूपेणावलोक्यन्ते। 'नैष्कर्म्यसिद्धौ' एतदेव 'उत्पन्नात्मावबोधस्य'—इत्यादिनाऽभिव्यक्तीकृतम् ॥ ३७ ॥

जीवन्मुक्त दशा में विद्वान् संन्यासी भी विषय का अभिमान या किसी से द्वेष नहीं करता। वे सब गुण उसके साधन नहीं बनते प्रत्युत उसमें अपने-आप लक्षण के रूप में दिखलाई देने लगते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि में यही बात 'उत्पन्नात्मावबोधस्य, इत्यादि रूप से कही गई है ॥ ३७ ॥

उपसंहारः

किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' अत्रैव समवलीयन्ते, 'विमुक्तश्च विमुच्यत' इत्यादिश्रुतेः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्द-
विरचितो वेदान्तसारः समाप्तः ॥



उपसंहारः—[अथ वेदान्तो नामेत्यारभ्यैतावता ग्रन्थप्रबन्धेनोत्तरोत्तरमेतदुक्तं ग्रन्थकारेण यत् 'अस्या वेदान्तविद्यायाः स एवाधिकारी यः साधनचतुष्टयसम्पन्नः, तदनन्तरं मूलाज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं परमानन्दप्राप्त्यर्थम् 'अध्यारोपापवाद'–न्यायेनैतदखिलप्रपञ्चस्याविद्यात्वञ्च प्रदर्शितम्। ततस्तदविद्याविनाशनसाधनभूतानि श्रवणमननादीनि सविस्तरं विवेचितानि; तदनन्तरं 'तत्त्वमसी'त्यादिवाक्योपदेशश्रवणेन ब्रह्मजीवयोरैक्यज्ञानपूर्वकं निरस्तसमस्तभेदबुद्धेरधिकारिणो जीवन्मुक्तदशा वर्णिता]

एतावदेवालमित्यलमनल्पेनेतिधिया ग्रन्थमुपजिहीर्षुर्ग्रन्थकार आह—किं बहुनेति। जीवन्मुक्तो जनो जीवन्मुक्तदशायां निरस्तसमस्तभेदभावप्रतीतिस्स्वयंप्रकाशात्मानन्दमनुभवन् ब्रह्मीभूत एवावतिष्ठते। तथाप्यविद्यालेशवशाच्छरीरयात्रामात्रार्थं स्वेच्छाकृतानां भिक्षाटनादीनां तथा समाधिदशायां शिष्योपनीताशनादिरूपाणां परेच्छाकृतानामेवं जाग्रदवस्थायां कण्टकवेधादीनामनिच्छाकृतानामेवं त्रिविधप्रारब्धकर्मणां सुखदुःखलक्षणानि फलान्यनुभवन्नपि स्वोपलब्धज्ञानेनाखिलं तत्त्वमवगच्छतीति भोगेनारब्धकर्मक्षये प्रत्यगभिन्नपरमात्मनि विलीने च तत्प्राणादावज्ञानजन्यतत्संस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यम्, परमानन्दैकरसम्, निरस्तसमस्तभेदप्रतिभासम् ब्रह्ममात्रमवतिष्ठते।

इत्थं जीवन्मुक्तस्य बुद्धयाद्युपाधिविगमे घटाद्युपाधिविनिर्मुक्ताकाशवत्तस्य मुक्त इति संज्ञा सञ्जायते। इत्थं विनष्टोपाधेर्जीवन्मुक्तस्य लिङ्गशरीरमत्यन्तसन्तप्ताय:-प्रक्षिप्तपय:पृषदिव प्रत्यगभिन्नपरमात्मन्येव विलीयतेऽतस्तस्य स्थूलशरीरं न ततः कथमपि चेष्टते। एवं स विगततदानीन्तनतनुस्तु भवत्येवैतदतिरिक्तं भाविदेह-बन्धनात्सविशेषेण मुक्तो जायते। निम्नाङ्कितश्रुतिष्वप्यैदम्पर्यमेवोपलभ्यते 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'अत्रैव समवलीयन्ते, विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादि ॥ २८ ॥

संस्कृत टीका समाप्ता

•

[अथ वेदान्तो नाम यहां से लेकर ग्रन्थकार ने यहाँ तक उत्तरोत्तर यह बतलाया कि इस वेदान्तविद्या का अधिकारी वही हो सकता है जो साधनचतुष्टय-सम्पन्न हो, इसके अनन्तर मूल अज्ञान की निवृत्ति करके परमानन्द की प्राप्ति के लिए 'अध्यारोपापवाद'—न्याय से यह प्रदर्शित किया कि यह सब प्रपञ्च अविद्या है। तत्पश्चात् उस अविद्या के नाश करने के साधन श्रवण, मनन इत्यादि का सविस्तर विवेचन किया। इसके पश्चात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के उपदेश से जीव-ब्रह्म के एकत्व-साक्षात्कारपूर्वक समस्त भेद-बुद्धि के नष्ट हो जाने से जीवन्मुक्त दशा का वर्णन किया।]

इतना ही बहुत है—अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं इस विचार से ग्रन्थकार लिखते हैं कि जीवन्मुक्त मनुष्य जीवन्मुक्तावस्था में आत्मानुभव मात्र ही में तत्पर रहता है उसको किसी प्रकार की भेदभाव-प्रतीति नहीं होती फिर भी वह शरीर चलने मात्र के लिये स्वेच्छाकृत भिक्षाटनादि तथा समाधि दशा में शिष्यादिकों के द्वारा दिये हुए अन्नादि रूप परेच्छाकृत एवं जाग्रत दशा में या समाधि दशा में अकस्मात् कण्टकादि लग जाने रूप अनिच्छाकृत—इन तीनों प्रकार के प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न सुख-दुःखों का अनुभव करता हुआ भी अपने ज्ञान द्वारा सब बातों को वास्तविक रूप से देखता है और भोग के द्वारा जब प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं तो प्रत्यगभिन्न परमात्मा में उसके प्राणादि विलीन हो जाते हैं, अविद्या एवं तज्जन्य कोई संस्कार शेष नहीं रहते तथा सब भेद-भाव नष्ट होकर ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार जब इस

जीवन्मुक्त की बुद्धयादि उपाधि विलीन हो जाती है तो घटादि उपाधि के नष्ट हो जाने से आकाश की तरह उसकी 'मुक्त' यह औपचारिक संज्ञा हो जाती है। वास्तव में तो वह आत्मा न बद्ध होता है, न मुक्त होता है :—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न तत्त्वतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥

उपाधि नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त का लिङ्ग-शरीर अत्यन्त सन्तप्त लोहे में पड़े हुए जल-बिन्दु के समान प्रत्यगभिन्न परमात्मा में विलीन हो जाता है। अतः उसका स्थूल शरीर फिर कोई काम नहीं करता। इस प्रकार उसका वर्तमान शरीर तो नष्ट ही हो जाता है पर भावी देह के बन्धनों से वह विशेष रूप से मुक्त हो जाता है। यही बात निम्नाङ्कित श्रुतियाँ कहती हैं :—
'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'अत्रैव समवलीयन्ते' 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादि।

हिन्दी टीका समाप्त

—o—

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

आगरा विश्वविद्यालयके वेदान्तसारविषयक प्रश्न

Explanations

Explain the following

१ बुद्धितत्स्थ......स्फुरेत् ।
२ विक्षेपशक्तिः.........उपादानञ्च भवति ।
३ अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलम्......वाक्यार्थो न सङ्गच्छते ।
४ शक्तिद्वयवदज्ञानोपहित......उपादानञ्च भवति ।
५ सामानाधिकरण्यम्...पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ।
६ लये सम्बोधयेत्......स्मृताः ।
७ इदमेव तुरीयम्......चोच्यते ।
८ भिद्यते हृदयग्रन्थिः......परावरे ।
९ अज्ञानं तु......श्रुतेश्च ।
१० इदं तत्त्वमसि......तदुक्तम् ।
११ अयं घटः......तदुक्तम् ।
१२ अनयैवावरणशक्त्या......जगत्सृजेत् ।
१३ संसर्गो वा......विदुषां मतः ।
१४ एवञ्च सति......तदुक्तम् ।
१५ फलव्याप्यत्वमेवास्य......वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
१६ असपंभूते......श्रुतेश्च ।
१७ निर्विकल्पकस्तु......भेदोपपत्तेः ।
१८ जीवन्मुक्तो नाम......ब्रह्मनिष्ठः ।
१९ वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोः......लक्ष्यमिति चोच्यते ।
२० न च तत्पदं त्वत्पदम्......अपेक्षाभावाच्च ।
२१ जडपदार्थाकाराकारितः.........स्फुरेत् ।
२२ अपवादो नाम......तदुक्तम् ।
२३ सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा......इत्युदीरितिः ।
२४ अनेन विघ्नचतुष्टयेन......तदुक्तम् ।
२५ किं बहुना......अवतिष्ठते ।

General Questions

1 Discuss the nature of unreality according to वेदान्त ।
2 Analyse the vedantic conception of अज्ञान ।
3 What do you gather from your study of वेदान्तसार with

regard to the Vedantic conception of God, Soul & the World ?

4 Write a note explaining as clearly as you can the Vedantic conception of वन्ध & मोक्ष ।

5 Define अज्ञान mentioning its chief शक्ति and their work. How does a Vedantic reach the conception of nonduality in spite of the apparent diversity ?

6 Compare the nature of आत्मा in Vedant with that of पुरुष in Samkhya ?

7 Give a clear exposition of the Vedant doctrine of अध्यारोप Discuss its merits in explaining the appearance of plurality and difference.

8 Following the Vedantsar write a short essay on the nature and the relation of ब्रह्मन् , जीव and ईश्वर ।

9 Write a short essay on the Vedant conception of अध्यास (illusion) & अज्ञान (ignorance).

10 Explain fully the nature and significance of the theory of जीवन्मुक्त ।

11 Write notes on :—

अजहल्लक्षणा, सविकल्पकसमाधि, भागलक्षणा, पञ्चीकरण, आवरणशक्ति, विघ्नचतुष्टय, महावाक्य, जीवन्मुक्त, वैश्वानर, लिङ्गशरीर, अध्यारोप, तन्मात्राणि, विक्षेपशक्ति, विवर्त ।

12 Explain the position of अध्यारोप & अपवाद and point out the वाच्यार्थ & लक्ष्यार्थ of the padas in the महावाक्य 'तत्त्वमसि' ।

13 Explain fully the process of Creation according to Vedant and compare it with that of सांख्य.

14 What kind of Ethical life is prescribed for a मुमुक्षु in Vedant.

15 What do you know about the प्रमाणs in Vedant system of thought ?

16 How would you reconcile the contradictory statements contained in the श्रुतिs liks 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' and 'यन्मनसा न मनुते' ।



वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालयके वेदान्तसारविषयक प्रश्न

१९५०

१ 'वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोप' इति सम्यग् व्याख्याय, इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति सप्रमाणं विविच्य, ईश्वरप्राज्ञयोर्भेदं लिखत ।

अथवा—पञ्चीकरणप्रक्रियया स्थूलसृष्टिं निरूप्य, वैश्वानर-विश्वयोर्भेदं सुस्पष्टं प्रकाशयत । ५

२ आत्मनि विविधवादिसम्मतमारोपं निरस्य, वेदान्तपक्षः समर्थ्यताम् ।

३ 'तत्त्वमसीतिवाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति' इति सोपपत्तिकं विशदं व्याख्यायताम् । १०

अथवा—श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधयो लक्षणनिर्देशपूर्वकं व्याख्यायन्ताम् ।

१९५१

१ वेदान्तस्य अनुबन्धचतुष्टयमज्ञानस्य शक्तिद्वयं च प्रदर्श्य, सूक्ष्मशरीरं कथं भवतीति सविस्तरं प्रतिपाद्यताम् । १०

अथवा—तत्त्वमसीतिवाक्याल्लक्षणयाऽखण्डचैतन्यं कथं प्रतीयत इति वेदान्तसारदिशा विविच्यताम् ।

२ द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ॥
सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः ॥ इति कारिके सोपक्रमं व्याख्येये । १०

३ वेदान्तस्य मीमांसाशास्त्रस्य च क उपयोगः, के च तयोः शास्त्रयोः प्रवर्तकाः आचार्याश्च इति विषयस्पष्टीकरणपूर्वकं पृष्ठद्वयात्मको निबन्धो लिख्यताम् । ७

१९५२

१ निम्नेषु पञ्चसु तृतीयमविहाय त्रयाणां वेदान्तसारस्थतत्तत्प्रकरणानुसारं व्याख्या कार्या— १०

(क) बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन च घटः स्फुरेत् ॥

(ख) फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।

(ग) संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥

(घ) सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥
(ङ) सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥

२ निम्नद्वादशसु षण्णां पदानां वेदान्तसारदिशा भेदप्रदर्शनपूर्वकं लक्षणं लिख्यताम् । अध्यारोप-अपवाद-अज्ञान-प्राज्ञ-ईश्वर-लिङ्गशरीर-अन्तःकरण-पञ्चकोश-वैश्वानर-समाधि-ध्यान-समाधयः । ९

३ निम्नलिखितेषु पक्षत्रयेषु भवते यः रोचते तस्यैकस्य समर्थनं विरोधिपक्षद्वयखण्डनपुरस्सरं सयुक्तिकं विधीयताम् । ८
(क) स्वर्गादिसुखप्राप्तये मीमांसानुसारं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या इत्येकः पक्षः ।
(ख) निःश्रेयसप्राप्तये वेदान्तानुसारमात्मजिज्ञासा कर्तव्या इति द्वितीयः पक्षः ।
(ग) धर्म-आत्मोभयजिज्ञासया पुरुषार्थसिद्धिरिति तृतीयः पक्षः ।

१९५३

सर्वे प्रश्नाः समानाङ्काः ।

१ वेदान्तस्याधिकारि-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनान्युल्लिखत ।
२ अज्ञानं तस्य शक्तिद्वयञ्च किमिति निरूप्यताम् ।
३ द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः । स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते इति कारिकोक्तः पञ्चीकरणप्रकारो निरूपणीयः ।
४ उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः । इति ससन्दर्भं व्याख्येये ।
५ कथं तत्त्वमसीतिवाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति ।
६ दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद् विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम् ॥ इति ।
७ सोपपत्तिकं जीवन्मुक्तलक्षणं निर्दिश्यताम् ।
८ यागादिना स्वर्गप्राप्तिः, ज्ञानेन तु ब्रह्मप्राप्तिरित्यनयोः कल्पयोः कः श्रेयान् इति विविच्यताम् ।
९ पूर्वोत्तरमीमांसयोः के के प्रधानाचार्याः, किन्तेषां महत्त्वमिति च निबध्नीत ।

१९५५

१ वेदान्ताधिकारप्रापकं साधनचतुष्टयं सम्यग् विवरणीयम् ।
२ (क) अज्ञानस्य स्वरूपं लक्षणं च सम्यग् विवृत्य तत्कृतः प्राज्ञसर्वज्ञभेदः स्फुटं निरूप्यः ।
(ख) सविकल्पकनिर्विकल्पकौ समाधी सम्यग् विवरणीयौ ।

१९५६

१ अज्ञानस्य किं लक्षणम्, किं च तस्य शक्तिद्वयम् ? लिंगशरीरस्यावयवाः के ? पञ्चीकरणं कीदृशम् ? किं महावाक्यम् , किञ्चानुभववाक्यम् ? १०

२ कः परिणामः ? कश्च विवर्त्तः ? किं जगतः परिणाम्युपादानं, किञ्च विवर्त्तोपादानम्? महावाक्यस्य कोऽर्थः? स च कया रीत्या कथं प्रतिपाद्यः ? १५

३ फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥
पद्यमिदं केन प्रसंगेनोपन्यस्तम् ? कश्चेदमीयोऽर्थः ? १५

१९५७

सर्वे प्रश्नाः समानाङ्काः ।

१ जीवस्य किं स्वरूपं, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तस्य क उपाधयः कानि च तस्य विभिन्नानि नामानि, किञ्च स्वरूपमीश्वरस्य, तस्य च क उपाधय उक्तावस्थासु, के च नामभेदाः ? समग्रमिदं स्पष्टतया समाधेयम् ।

२ 'तत्त्वमसि' इत्येतद्वाक्यस्थयोः 'तत्'-'त्वम्' पदयोः शोधनप्रकारं वर्णयित्वा तत्र भागत्यागलक्षणाया अनिवार्यत्वमुपपाद्यताम् ।

३ 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधमुपपाद्य घटादौ बुद्धितत्स्थचिदाभासयोर्व्याप्त्युपगमस्य प्रयोजनं प्रतिपाद्यताम् ।

४ कानि षड् लिङ्गानि, कथञ्च तानि वेदान्तानामद्वयब्रह्मपरत्वं प्रत्याययन्ति? इत्येतदुभयं समाधाय निर्विकल्पकस्य विघ्नचतुष्टयं तत्परिहारोपायसहितं विज्ञाप्यताम् ।

१९५८

सर्वे प्रश्नाः समानाङ्काः ।

१ वेदान्तं तत्प्रमेयं तद्विद्याधिकारिणं च निर्वर्ण्य मुक्तिकामस्य प्रथमं कर्तव्यमभिधीयताम् ।

२ अज्ञानं लक्षयित्वा तस्य शक्तिद्वयं नामतः फलतः शंसता तदाश्रयविषयौ प्रतिपाद्येताम् ।

३ 'तत्त्वमसि' इति महावाक्यस्याखण्डार्थबोधकत्वं ग्रन्थोक्तरीत्या व्यवस्थाप्यताम् ।

४ समाधिं सभेदं ससाधनं च वर्णयता निर्विकल्पकस्य चत्वारो विघ्ना निराकरणोपायसहिताः निरूप्यन्ताम् ।

—oo:o:oo—

हमारे कतिपय नवीन प्रकाशन

पुराण-विमर्श। आचार्य बलदेव उपाध्याय	२०-००
वाल्मीकिरामायणकोश। डॉ० रामकुमार राय	२०-००
महाकवि भवभूति। डॉ० गंगासागर राय	५-
भारविकाव्य में अर्थान्तरन्यास। डॉ० उमेश प्रसाद रस्तोगी	६-
महाभारतकोश। डॉ० रामकुमार राय। प्र० भाग	२०-
आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन	१५-००
हिन्दी कामसूत्र। (जयमंगला टीका सहित) आचार्य देवदत्त शास्त्री	१२-००
हिन्दी काव्यमीमांसा। डॉ० गंगासागर राय	८-५०
काव्यात्मसीमांसा। डॉ० जयमन्त मिश्र	१६-००
संस्कृत भाषा। (टी० बरो) अनु० भोलाशंकर व्यास	३०-००
चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन।	१२-००
चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा। डॉ० सर्वानन्द पाठक	१२-५०
हिन्दी ध्वन्यालोक। (लोचन सहित) आचार्य जगन्नाथ पाठक। संपूर्ण	१६-००
नाटकचन्द्रिका। अनुवादक—प्रो० बाबूलाल शुक्ल	७-५०
प्रतिभादर्शन या भाषातत्त्व शास्त्र। आचार्य हरिशंकर जोशी	२५-००
प्राकृत साहित्य का इतिहास। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	२०-००
प्रयोगवादी काव्यधारा। (तथोक्त नई कविता) डॉ० रमाशंकर तिवारी	१२-५०
हिन्दी ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य। १-२ अध्याय प्रथम भाग	१५-००
भारतीय इतिहास-परिचय। डॉ० राजबली पाण्डेय	१०-००
भासनाटकचक्रम्। संस्कृत-हिन्दी टीका। आचार्य बलदेव उपाध्याय	२२-००
हिन्दी वेदान्तपरिभाषा। आचार्य गजानन शास्त्री	१०-००
वैदिक युग के भारतीय आभूषण। ले० राय गोविन्द चन्द	१६-००
हिन्दी व्यक्तिविवेक। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी	१६-००
संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास। मूललेखक—कृष्णचैतन्य	२०-००
संस्कृत सुकविसमीक्षा। आचार्य बलदेव उपाध्याय	२०-००
हिन्दी सर्वदर्शन संग्रह। प्रो० उमाशङ्कर शर्मा ऋषि	५-०

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१